"वेङ्कटनाथ कृत यादवाभ्युदय महाकाव्य का समीक्षात्मक अध्ययन"

बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झांसी की पी-एच०डी० उपाधि
हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

शोध-निर्देशक
प्रोफेसर राम किशोर शास्त्री
प्रोफेसर संस्कृत विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद ।

शोध-सह-निर्देशक
पं० राजाराम दीक्षित
विभागाध्यक्ष-संस्कृत विभाग
अतर्रा पी०जी० कॉलेज,
अतर्रा (बाँदा) ।

शोधच्छात्र
पंकज कुमार पाण्डेय
(एम०ए० एवं साहित्याचार्य, संस्कृत)
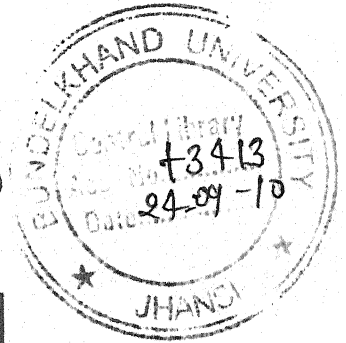
विषय - संस्कृत

शोध-केन्द्र

अतर्रा पी०जी० कालेज, अतर्रा (बाँदा)
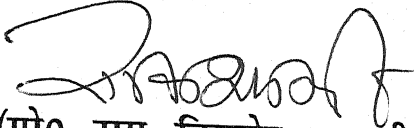
2008

शोध-निर्देशक का प्रमाण-पत्र
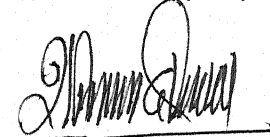
प्रमाणित किया जाता है कि **पंकज कुमार पाण्डेय**, शोधच्छात्र ने पी-एच0डी0 उपाधि हेतु **"वेंकटनाथ कृत यादवाभ्युदय महाकाव्य का समीक्षात्मक अध्ययन"** विषय पर शोध-प्रबन्ध को मेरे निर्देशन में पूर्ण किया है। इनका यह शोध-प्रबन्ध पूर्णतया मौलिक एवं नवीन है और यह कार्य इन्हीं के द्वारा सम्पन्न किया गया है।
इन्होंने मेरे निर्देशन में 200 दिन उपस्थित होकर शोध कार्य पूर्ण किया है।

(प्रो0 राम किशोर शास्त्री)
संस्कृत विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

(पं0 राजाराम दीक्षित)
विभागाध्यक्ष
संस्कृत विभाग
अतर्रा पी0 जी0 कालेज, अतर्रा (बाँदा)

प्राक्कथन

संस्कृत महाकाव्य परम्परा कब से प्रारम्भ हुई? इसे इदमित्थं रूप से नहीं कहा जा सकता। यद्यपि प्रसिद्ध वैयाकरण महर्षि पाणिनि के 'जाम्बवतीजयम्' का उल्लेख विभिन्न ग्रन्थें में तो मिलता है; किन्तु सम्प्रति वह उपलब्ध नहीं है। संस्कृत साहित्य में महाकाव्य मन्दाकिनी की अजस्र प्रवहमान धारा तो हमें महाकवि कालिदास और उनके पश्चात् के कालखण्ड में प्राप्त होती है। संस्कृत महाकाव्यों की सर्जना किसी कालखण्ड या क्षेत्र विशेष में न होकर आसेतुहिमाचल सर्वत्र होती रही है। सुदूर दक्षिण के तमिलनाडु प्रान्त में आविर्भूत महाकवि वेङ्कटनाथ, जिन्हें वेदान्त देशिक के अपर नाम से भी जाना जाता है, उन्हीं महाविभूतियों में हैं, जिनकी लेखनी का सम्बल पाकर संस्कृत महाकाव्य परम्परा स्वयं को गौरवान्वित मानती है। श्री वेङ्कटनाथ केवल कवि ही नही थे, अपितु दर्शन के विभिन्न क्षेत्रों में, विशेषकर विशिष्टाद्वैत वेदान्त में उनकी गति अप्रतिहत रही है।

यादवाभ्युदय महाकाव्य इन्हीं वेङ्कटनाथ की अपूर्व कृति है। यह महाकाव्य, महाकाव्य की निकषापर सर्वविध खरा उतरता है। विद्यार्थी जीवन में संस्कृत साहित्य का विद्यार्थी होने के कारण मुझे उत्तरभारत में प्रचलित महाकाव्यों के स्थालीपुलाकन्याय से अध्ययन का अवसर सुलभ हुआ। इसी क्रम में महाकवि के रूप में वेङ्कटनाथ या वेदान्तदेशिक की चर्चा सुनने को मिली। मैं सहजरूप से वेङ्कटनाथ के कर्तृत्व के आभामण्डल से

प्रभावित हुए बिना न रहा सका। फलतः शोध का अवसर उपस्थित होने पर मुझे परमादरणीय गुरुदेव प्रोफेसर श्री रामकिशोर शास्त्री जी के द्वारा यादवाभ्युदय पर कार्य करने की प्रेरणा प्राप्त हुई। परिणामस्वरूप 'वेङ्कटनाथकृत यादवाभ्युदय महाकाव्य का समीक्षात्मक अध्ययन' शीर्षक के साथ प्रकृत शोध-विषय बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय झाँसी की शोध उपाधि समिति द्वारा स्वीकृत होने के पश्चात् मैं शोधकार्य में प्रवृत्त हुआ।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध वेदान्त देशिक की परम्परा को आगे बढ़ाने का सहज प्रयास है। यह प्रबन्ध आरणीय गुरु जी प्रो0 राम किशोर शास्त्री की निरन्तर प्रेरणा, आशीर्वाद और सतत निर्देशन की परिणति है। वास्तव में मुझे शोध की दिशा में प्रेरित करने और उसे पूर्णाहुति तक पहुँचाने में आदरणीय गुरुजी ने जितनी सक्रियता और सजगता दिखाई, उसके बिना यह शोध-प्रबन्ध शायद आकार रूप ले पाने में समर्थ नहीं होता।

मुझे आज भी याद है जब मैं इलाहाबाद विश्वविद्यालय में स्नातक के लिए प्रविष्ट हुआ और सर्वप्रथम गुरुजी की ओजपूर्ण वाणी से साक्षात्कार हुआ। ध्वन्यध्वन्यध्वनीनांधुरीणस्य..... का स्वर आज भी मन-मस्तिष्क में गुञ्जायमान होता रहता है। गुरुजी के सानिध्य में आने के बाद से मेरी शैक्षणिक यात्रा पूरी तरह उनके निर्देशन और प्रेरणा से ही पुष्पित-पल्लवित हुई। 'यादवाभ्युदय महाकाव्य' की समीक्षा का विचार भी उनके ही मार्गदर्शन और इस प्रेरणा के साथ आया कि वास्तव में वेदान्तदेशिक की महान् परम्परा की ज्योति प्रज्जवलित रखने की आवश्यकता है। समीक्षा में महाकाव्य के अंतरंग और वाह्य रूप के विविध

पक्षों को समेटने की कोशिश की गई है। इस प्रयास में कितनी सफलता मिली है, कहना कठिन है, परन्तु इतना अवश्य है कि प्रस्तुत शोध प्रबन्ध वेदान्तदेशिक की महती परम्परा को जीवित रखने में एक अहम कड़ी सिद्ध होगा। महाकाव्य के दार्शनिक पुट को व्यावहारिक पहलुओं से परखने और रस, अलंकार, भावों से परिपूर्ण साहित्यिक समृद्धि का तुलनात्मक दृष्टि से आद्योपान्त विवेचन करने का प्रयास प्रस्तुत प्रबन्ध में किया गया है।

शोध-प्रबन्ध को पूर्ण करने में आदरणीय गुरुजी प्रो० शास्त्री के अलावा सह-निर्देशक पं० राजाराम दीक्षित जी का भी हृदय से आभरी हूँ, जिनका सहज-सहयोग मुझे निरन्तर मिलता रहा है। माता जी श्रीमती मालती देवी और पिता जी श्री हरिहर प्रसाद पाण्डेय के श्री चरणों के आशीर्वाद मेरे लिए सदैव स्वतः स्फूर्ति का कारण रहा है। पिता जी का वह व्यक्तितत्व जिसमें हर विपरीत परिस्थिति का डटकर मुकाबला करने और सुखदुखयोः समो भूत्वा... की भावना से व्यवहार करने की प्रेरणा निहित रही है, मेरे जीवन में आदर्श की तरह रहा है।

अग्रज सर्वश्री अनिल कुमार पाण्डेय भी हर कदम पर मेरे साथ खड़े रहे हैं। मेरी पत्नी संगीता का योगदान उसके मौन की तरह ही अकथनीय है। भाभी श्रीमती साधना पाण्डेय और अनुज मोनू का सहयोग भी मुझे हर कदम पर मिला। मेरी बहनें आशा दीदी, सुधा दीदी, अंजू दीदी और जीजा जी लोग हमेशा प्रेरित करते रहे हैं कि शोध अवश्य पूर्ण होना चाहिए। अस्तु इनका आभार शब्दों में नहीं व्यक्त किया जा सकता है।

पुत्री सौम्या और मौली, भतीजे दिव्यांशु और रक्षांशु को भी आभार, जिनके स्मरण मात्र से काम की ऊर्जा बढ़ जाती है।

सहजता की प्रतिमूर्ति वैदुष्यसम्पन्न अग्रजा डॉ0 अम्बेश्वरी जी के प्रति मैं उनकी सत्यप्रेरणा उत्साहवर्द्धन एवं रचनात्मक समालोचना के लिए अन्त:स्थल से आभार व्यक्त करना अपना प्रथम व पृथक् दायित्व समझता हूँ।

मैं अपने अग्रजों डॉ0 अरविन्द शुक्ल, डॉ0 कमलदेव शर्मा, डॉ0 सरवरे आलम, श्री अतुल तिवारी एवं श्री अजीत तिवारी आदि का भी उनके उत्साहवर्द्धन के किए हृदयेन आभारी हूँ।

मेरे द्वारा अनुज श्री अजय कुमार शुक्ल (S.R.F.), श्री ज्ञानेन्द्र त्रिपाठी (शोधच्छात्र), श्री रमेश कुमार यादव (छात्रनेता इ0वि0वि0), श्री अशोक कुमार वर्मा, श्री रामचन्द्र चतुर्वेदी (शोधच्छात्र), श्री प्रशान्त शुक्ल, श्री अवधेश सिंह आदि अपने विशेष सहयोग व योगदान के लिए विशिष्ट आभार व साधुवाद के पात्र हैं। साथ ही प्रिय मित्र प्रमोद को भी साधुवाद ।

मेरे इस शोध कार्य में जिन अदृश्य, अमूर्त तथा मूर्त शक्तियों, ऋषियों, गुरुजनों एवं उनके ग्रन्थों ने आज्य एवं समिधासदृश कार्य किया या इस शोध रूपी महायज्ञ के अनुष्ठान में समवायि, असमवायि तथा निमित्तकारण की भाँति सहायता किया, उनके प्रति मैं हृदयेन कृतज्ञ हूँ। इसके अतिरिक्त विभिन्न संस्थाओं, केन्द्रों एवं पुस्तकालयों आदि के

कर्मचारियों से जो सहयोग मिला उसके लिए भी मैं उनके प्रति आभार एवं कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

इस शोध-प्रबन्ध के टंकण एवं मुद्रण का कार्य सॉस कम्प्यूटर्स सेन्टर, सलोरी, इलाहाबाद के तत्त्वावधान में सम्पादित हुआ है। सेन्टर के निदेशक श्री अवेधश मौर्य जी एवं टंकणकर्ता श्री संजय श्रीवास्तव जी अपनी निष्ठा एवं लगन व उत्साहपूर्वक दायित्व निर्वाह के लिए विशेष आभार तथा साधुवाद के पात्र हैं।

एतदतिरिक्त मैं उन अन्य समस्त ज्ञाताज्ञात शुभचिन्तकों, सहपाठियों, मित्रों, सम्बन्धियों एवं प्रियजनों के प्रति भी यथोचित साधुवाद व आभार प्रकट करता हूँ, जिन्होंने परोक्ष अथवा अपरोक्ष रूप से मेरा सहयोग व उत्साहवर्द्धन किया है।

अन्ततः उन लीलाविहारी लीलापुरुषोत्तम परमपुरुष भगवान् वासुदेव श्रीकृष्ण-- जिनके चरित्र का वर्णन यादवाभ्युदय महाकाव्य में किया गया है-- को नमन करता हुआ मैं इस समीहा के साथ कि प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध अपने उद्देश्य में समर्थ सिद्ध होगा, इसे प्रभु के श्री चरणों में अर्पित करता हूँ।

विद्वज्जनानुचर
पंकज कुमार पाण्डेय
(पंकज कुमार पाण्डेय)

पावनभूमि प्रयाग
चाणक्य विहार
कृष्णजन्माष्टमी
संवत् 2065
24 अगस्त 2008

विषय- सूची

(3) श्लेष

खण्ड 2- अर्थालङ्कार

(1) उपमा
(2) रूपक
(3) उत्प्रेक्षा
(4) अनन्वय
(5) उपमेयोपमा
(6) सन्देह
(7) अपह्नुति
(8) समासोक्ति
(9) निदर्शना
(10) अतिशयोक्ति
(11) व्यतिरेक
(12) विभावना
(13) विशेषोक्ति
(14) अर्थान्तरन्यास
(15) विरोध
(16) काव्यलिङ्ग

खण्ड 3- चित्रालङ्कार

(1) स्वरचित्र
(2) वर्णचित्र
(3) स्थानचित्र
(4) बन्धचित्र
  (क) सर्वतोभद्र
  (ख) अर्धभ्रमक
  (ग) मुरजबन्ध
  (घ) चक्रबन्ध
  (ङ) पद्मबन्ध
  (च) गोमूत्रिकाबन्ध
(5) गीतिचित्र
(6) प्रहेलिका
(7) च्युतचित्र
(8) गूढ़चित्र

प्रथम-अध्याय

आचार्य वेङ्कटनाथ (वेदान्तदेशिक) का जीवनवृत्त एवं कर्तृत्त्व

'आचार्य वेङ्कटनाथ (वेदान्तदेशिक) का जीवनवृत्त एवं कर्तृत्व'

खण्ड (1)

जीवनवृत्त :

संस्कृत वाङमय में उपलब्ध समस्त अन्त:साक्ष्य एवं बाह्य साक्ष्यों के आधार पर कवि एवं दार्शनिक आचार्य वेङटनाथ (वेदान्तदेशिक) का जन्म भाद्रपद शुक्लपक्ष दशमी, कलिसंवत् 4369, शकाब्द 1190, विक्रम संवत् 1325, ईस्वीय सन् 1268 को काञ्ची (कान्जीवरम्) में हुआ था। कुछ विद्वान् गुरु परम्परा के आधार पर उनका जन्म विजयादशमी को मानते हैं। उनके जन्म की यही तिथि पश्चवर्ती ऐतिह्यविद् भी स्वीकार करते हैं।

पारम्परिक प्रमाणों के अनुसार आचार्य वेंकटनाथ विश्वामित्र गोत्रीय सोमयाग के विशिष्ट सम्पादक श्री पुण्डरीकाक्ष[1] के सुपुत्र एवं गुणों के आगार श्री अनन्तसूरि (अनन्ताचार्य)[2] की धर्मपत्नी तौतारम्भा (या तौताद्रयम्बा) के गर्भ से उत्पन्न हुए। आचार्य वेंकटनाथ ने विश्वामित्र गोत्र में जन्म प्राप्ति का उल्लेख बड़े ही गर्व के साथ किया है,[3] कारण कि विश्वामित्र ही सावित्री (गायत्री) के द्रष्टा ऋषि हैं।[4] उनसे ही सावित्री का प्रादुर्भाव हुआ है। अत: सावित्री उनकी अनन्यगोत्रा सिद्ध होती हैं।[5]

---

1. संकल्प सूर्योदय 1/12 पूर्वगद्य
2. संकल्प सूर्योदय 1/12 पूर्वगद्य
3. संकल्प सूर्योदय 1/13 पूर्वगद्य
4. ''साविध्या ऋषिर्विश्वामित्र:'' गायत्री मन्त्र विनियोग
5. संकल्प सूर्योदय 1/13

वेंकटनाथ (वेदान्तदेशिक) ने स्वयं को विष्णुघण्टावतार कहा है।[1] इसी आधार पर इनके विषय में एक ऐतिह्य है कि वेंकटनाथ के पिता ने एक रात्रि स्वप्न देखा कि तिरुपति देवस्थान के देव श्री वेंकटेश्वर जी ने उन्हें सपत्नीक तिरुपति जाकर उपासना करने का आदेश दिया है। तदनुसार अनन्तसूरि दम्पत्ति ने तिरुपति के लिए प्रस्थान किया। तिरुपति जाने पर अनन्तसूरि की पत्नी तौतारम्भा ने स्वप्न देखा कि भगवान् वेंकटेश्वर ने एक बालक के रूप में प्रकट होकर उन्हें एक घण्टा प्रदान किया और पुत्र रूप में उसके अवतरित होने का वरदान दिया है। दूसरे दिन लोगों ने देखा कि वेंकटेश्वर मन्दिर में घण्टा नहीं था। तेजोरूप में यह घण्टा तौतारम्भा के गर्भ में प्रवेश कर गया था। मन्दिर के प्रधान पुजारी को भी भगवत्कृपा से इस वृत्त का ज्ञान हो गया, जिससे उन्होंने अन्य पुजारियों और यात्रियों पर चोरी का सन्देह नहीं किया। श्री वेंकटेश्वर देवस्थानम् तिरुपति में आज भी घण्टे का न होना उस वृत्तान्त का संकेत करता है। तिरुपति से वापस आकर तौतारम्भा बारह वर्ष तक गर्भ धारण किये रहीं। उसके बाद उन्होंने एक पुत्ररत्न को जन्म दिया। भगवान् श्री वेंकटेश्वर का वरदान मानकर अनन्तसूरि दम्पत्ति ने बालक का नाम वेंकटनाथ रखा।[2] कालान्तर में इसी बालक वेंकटनाथ ने 'वेदान्ताचार्य' और 'वेदान्तदेशिक' नाम से ख्याति प्राप्त

1. संकल्प सूर्योदय 1/14 "घण्टाहरैः समजनिष्टयवात्मनेति"
2. वेदान्ताचार्यजननी वरपुत्राभिलाषिणी।
स्वप्ने श्री वेंकटेदर्शन दत्तां घण्टां निगीर्यसा।।
दधार गर्भमतुलं द्वादशाब्दं पतिव्रता।
ततो जज्ञे गुरुरयं वेदान्ताचार्य शेखरः।। ऐतिह्य संकल्प सूर्योदय 1/14 प्रभावली

की। ऐतिह्य की प्रामाणिकता यही है कि स्वयं वेदान्तदेशिक तथा आचार्य परम्परा में इसे स्वीकृति प्राप्त है।

परम्परानुसार वेदान्तदेशिक की माता 'तौतारम्भा' विशिष्टाद्वैत के विद्वान् ऐतरेय रामानुजाचार्य की भगिनी तथा पद्मनाभाचार्य की पुत्री थीं। इस प्रकार वेदान्तदेशिक के जन्मदातृ उभयकुल (मातृ-पितृ) विशिष्टाद्वैत दर्शन के लिए प्रख्यात थे।

''सुपुत्र के पांव पालने में ही दिखने लगते हैं'' कि लोकोक्ति को चरितार्थ करने वाले असाधारण व्यक्तित्व के धनी वेदान्तदेशिक की प्रतिभा बाल्यकाल से ही दिखने लगी थी। जब वे छः वर्ष के थे तो एक बार अपने मामा आत्रेय रामानुजाचार्य के साथ एक सभा में गये। वहाँ बड़े-बड़े विद्वान् विराजमान थे। वात्स्य वरदाचार्य ने वत्स,

प्रतिष्ठापितवेदान्तः प्रतिक्षिप्तबहिर्मतः।

भूयास्त्रैविद्यमान्यस्त्वं भूरिकल्याण भाजनम्।।

इत्यादि कहकर मंगलशासन किया। इस वृतान्त को वेदान्तदेशिक ने 'संकल्प सूर्योदय' नाटक में शिष्य के प्रति गुरु के आर्शीवाद के ब्याज के प्रकट किया है।[1]

बालक की विलक्षण प्रतिभा से अभिभूत मातुल आत्रेय रामानुजाचार्य ने इन्हें अन्य कलाओं के साथ रामानुज दर्शन के गूढ़ तथ्यों का ज्ञान कराया। बीस वर्ष की अवस्था तक इनका अध्ययन चलता रहा। उन्होंने न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा आदि भारतीय दर्शनों का सम्यक् अध्ययन कर पूर्ण पाण्डित्य प्राप्त किया। रामानुज दर्शन के प्रचार-प्रसार को

---

1. संकल्प सूर्योदय 2/15

इन्होंने अपने जीवन का ध्येय समझा। संकल्प सूर्योदय की रचना के पूर्व वे तीस बार श्रीभाष्य का अध्ययन कर चुके थे।[1] उन्होंने सभाओं में चार्वाक (लोकायत) तथा बौद्धादि बाह्यवादियों को तृणवत् उड़ा दिया था। अपनी प्रतिभा के विषय में उन्होंने लिखा है कि गुरू-कृपा से एक बार जो सुन लेते थे, वह कभी विस्मृत नहीं होता था। कोई उस पर कितना भी तर्क-वितर्क करके दोष स्थापित करने का प्रयत्न करे, क्षणभर में उसे समाप्त कर देते थे।[2]

अध्ययनानन्तर वेदान्तदेशिक (वेंकटनाथ) ने गृहस्थाश्रम में प्रवेश किया। परम्परा से ज्ञात होता है कि इन्होंने उभयकुल (पितृ एवं पतिकुल) विशुद्धा 'तिरुमंगलै' नामक कन्या को सहधर्मचारिणी बनाया। सुखपूर्वक गृहस्थ जीवन व्यतीत करते हुए उन्हें अड़तालीस वर्ष की आयु में कलि संवत् 4417 के श्रावणमास (दक्षिण के अनुसार भाद्रपद कृष्णाष्टमी) में रोहिणी नक्षत्र में एक पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई, जो वरदनाथ या कुमार वेदान्ताचार्य नाम से प्रसिद्ध हुआ।

श्री वेदान्तदेशिक के समावर्तन संस्कार के छठवें वर्ष के उनके शिक्षक एवं मातुल श्री आत्रेय रामानुजाचार्य का परम पद हो गया था। कुछ काल तक वेदान्तदेशिक कान्ची में ही श्रीभाष्यादि शारीरिक शास्त्रों का अध्ययन करते रहे। तदन्तर गारुड मन्त्र की सिद्धि हेतु उन्होंने अहीन्द्रपुर के लिए प्रस्थान किया। गारुड मन्त्र के जप से प्रसन्न गरुड जी ने वेदान्तदेशिक को हयग्रीव मन्त्र के लिए उपदिष्ट किया। गरुड द्वारा उपदिष्ट

---

1. त्रिंशद्वारं भावितशारीकभाष्यः-संकल्प सूर्योदय 1/15
2. संकल्प सूर्योदय 2/19

वेदान्तदेशिक जी हयग्रीव मन्त्र के अनुसन्धान में तत्पर हो गये और गरुड जी द्वारा प्रदत्त हयग्रीव भगवान् की अर्चामूर्ति की अर्चना करते हुए उन्होंने कुछ काल व्यतीत किया। एक दिन प्रसन्न हयग्रीव जी ने उन्हें प्रतिपक्षी के सिद्धान्तों का खण्डन करने में समर्थ, सकल शास्त्रों में पाण्डित्य एवं शास्त्रार्थ सभाओं में विजयशील पराक्रम का वरदान देकर अनुगृहीत किया। ऐसी परम्परा प्रसिद्ध है। इसी समय उन्होंने देवनायक पन्चाशत्, गोपालविंशति और कुछ द्राविड ग्रन्थों की रचना की। अहीन्द्रपुर से वापस काञ्ची आते हुए मार्ग में उन्होंने 'देहलीश स्तुति' तथा 'सच्चरित्र रक्षा' की रचना की। कान्ची वापस आकर वे वेदान्त के प्रवचन में लग गये। अनेक वर्षो तक सुखपूर्वक व्यतीत करते हुए उन्होंने 'वरदराजपन्चाशत्' एवं अन्य अनेक संस्कृत और द्राविड प्रबन्धों की रचना की।

उत्तर भारतीय तीर्थस्थलों के यात्रा क्रम में वेदान्तदेशिक जी ने सर्वप्रथम वेंकटाद्रि (तिरुपति) की यात्रा की जहां उन्होंने दयाशतक की रचना करके भगवान् श्री निवास को समर्पित किया। वे यहां भगवान् तिरुपति और मन्दिर के परिसर से अत्यधिक प्रभावित हुए। उनके 'संकल्प सूर्योदय' तथा 'हंस संदेश' नामक ग्रन्थों में उत्तर भारत के अनेक तीर्थस्थानों का स्मरण प्राप्त होता है। उन्होंने भगवान् श्रीरामचन्द्र की नगरी अयोध्या को ''पाषण्डिमण्डल प्रचार खण्डित कार्तयुगधर्म'' तथा ''निवृत्रिधर्मनिष्ठ अनिष्ठुरबृद्धिवालों'' से परित्यक्त कहा है।[1]

---

1. संकल्प सूर्योदय, पेज 557

वाराणसी को उन्होंने "अवैदिक यवन तुरूष्काधभिन्नजातीयदेशाधिपति संविधान लुप्त शौचाचार" आदि कहा है।[1] इसी प्रकार मथुरा, द्वारिका, नेपाल, अवन्ती इत्यादि अनेक उत्तरभारतीय नगरों का वर्णन हमें प्राप्त होता है। ध्यातव्य है कि जहां अनेकशः नगरों एवं देशों का वर्णन वेदान्तदेशिक के भौगोलिक ज्ञान को सूचित करता है, वहीं उनकी सामाजिक तथा भौगोलिक स्थिति का वर्णन उनके आवागमन को भी पुष्ट करता है। उन्होंने नेपाल और हिमालय के अतिरिक्त बदरिकाश्रम का भी उल्लेख किया है। इन सबसे यह सिद्ध होता है कि वेदान्तदेशिक जी ने निश्चित रूप से उत्तर भारत के तीर्थस्थलों की यात्रा की होगी।

वेदान्तदेशिक जी ने न केवल उत्तर भारत बल्कि दक्षिण भारत के तीर्थस्थलों का भी भ्रमण किया था। अहीन्द्रपुर (तिर्वहीन्द्रपुरम्) तिरुपति और श्रीरंगम् में तो उन्होंने निवास भी किया था। कान्ची उनकी जन्मभूमि तथा कर्मभूमि दोनों रही हैं। इसके अतिरिक्त यादवाचल, मलय, ताम्रपर्णी, पाण्ड्य देश, वेंकटाद्रि, वृषाचल आदि का भी उन्होंने संकल्प सूर्योदय नामक ग्रन्थ में वर्णन किया है। इन स्थलों का जैसा सुन्दर एवं मनोरम वर्णन उन्होंने किया है, वह प्रत्यक्ष दर्शन के बिना सम्भव नहीं है।

सम्पूर्ण भारत भ्रमण के अनन्तर वेदान्तदेशिक जी ने काञ्ची ने अपना स्थायी आवास बनाया। यहीं उनके पुत्र वरदनाथ का जन्म हुआ। वरदनाथ ने अपने पिता से ही ब्रह्मोपदेशपूर्वक वेदादि का अध्ययन किया।

कालान्तर में कुछ अद्वैत दार्शनिकों ने श्रीरंगम् में आकर विशिष्टाद्वैत दर्शन पर आक्षेप किया। वहाँ उपस्थित विशिष्टाद्वैती विद्वान् उनके आक्षेपों

---

1. संकल्प सूर्योदय, पेज 564

का समुचित समाधान न कर सके तो उन लोगों ने अद्वैतियों के आक्षेपों का जवाब देने के लिए वेदान्त के प्रख्यात विद्वान् वेदान्तदेशिक को काञ्ची से श्रीरंगम् आने का आग्रह किया। श्री देशिक जी ने श्रीरंगम् जाकर न केवल अद्वैती विद्वानों के आक्षेपों का समाधान किया बल्कि उनके सिद्धान्तों पर सौ आक्षेप लगाया जो 'शतदूषणी' ग्रन्थ के रूप में प्रसिद्ध हुआ।

इसके पश्चात् उन्होंने पुनः श्रीभाष्य के अध्यापन और विशिष्टाद्वैत दर्शन के प्रचार-प्रसार में मन लगाया। उन्होंने संस्कृत, तमिल एवं मणिप्रवाल शैली में अनेक ग्रन्थों की रचना की। विशिष्टाद्वैत दर्शन के आचार्य के रूप में उनकी कीर्तिलता चतुर्दिक फैल गयी।

इतिहास इस बात का साक्षी है कि दुष्टजन सज्जनों को सदैव बिना कारण के ही कष्ट देते रहे हैं। वेदान्तदेशिक भी इसके अपवाद न रह सके। ईर्ष्यालुओं ने उन्हें अपमानित करने के उपाय किये, किन्तु भगवत्-कृपा से वे सब निष्फल होते गये। लक्ष्माणाचार्य के शिष्यों के उपद्रव से क्षुब्ध होकर वेदान्तदेशिक जी से थोड़ी दूर सत्याकाल (सत्यमंगलम्) नामक ग्राम में निवास करने लगे। कालान्तर में ईर्ष्यालुओं को अपने कृत्य पर क्षोभ हुआ। उनके सदाग्रह पर वेदान्तदेशिक जी श्रीरंगम् में आकर पुनः रहने लगे।

यवनों द्वारा श्रीरंगम् के आक्रान्त होने पर मन्दिर के अधिकारियों में प्रधान सुदर्शनाचार्य ने वेदान्तदेशिक को बुलाकर अपने दो पुत्रों एवं श्रीभाष्य की श्रुत प्रकाशिका व्याख्या को उनके हाथों में सौंप दिया। वेदान्तदेशिक जी श्रीरंगम् से सत्याकाल और फिर यादवाचल पर जाकर श्रुत

प्रकाशिका आदि के प्रवचन में तल्लीन हो गये। कुछ काल पश्चात् श्रीरंगम् में शान्ति स्थापित होने पर वे पुनः वहाँ आकर रहने लगे।

इस प्रकार विशिष्टाद्वैत दर्शन के रक्षण, संवर्द्धन तथा प्रचार-प्रसार में अपने बहुआयामी जीवन यात्राओं को तय करते हुए एवं तिरुपतेश्वर श्री वेंकटेश्वर जी की आराधना में संलग्न श्री वेंकटनाथ वेदान्तदेशिक जी 14 नवम्बर सन् 1369 ई0, कलि संवत् 4760 विक्रम संवत् 1426, शकाब्द 1291 के कार्तिक मास में 101 वर्ष की पूर्ण मानवीय आयु का अतिक्रमण करके वैकुण्ठधाम पधारे।

खण्ड (2)

कर्तृत्व :

विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के प्रतिष्ठापक कवि एवं दार्शनिक श्री वेंकटनाथ द्वारा भारतीय साहित्य की जो बहुमुखी सेवा की गयी वह अपने आप में अतुलनीय है। श्री वेंकटनाथ (वेदान्तदेशिक) की कृतियों को कम भाषा दृष्टि से चार और विषय की दृष्टि से छः भागों में विभाजित कर सकते हैं। भाषा की दृष्टि से इनकी रचनाएं-

1. संस्कृत
2. प्राकृत
3. तमिल और
4. मणि प्रवाल

नाम से चार भागों में विभक्त की जा सकती हैं। उनके ग्रन्थों की संख्या बता पाना कठिन है, फिर भी संस्कृत भाषा में लिखे गये उनके

ग्रन्थों की संख्या 62, प्राकृत में 1, तमिल में 18 और मणि प्रवाल शैली में लिखित ग्रन्थों की संख्या 34 मानी जाती है।

विषय की दृष्टि से उनकी संस्कृत रचनाओं को निम्नलिखित छः भागों में बांटा जा सकता है-

1. स्त्रोत साहित्य
2. धार्मिक एवं अनुष्ठेय ग्रन्थ
3. काव्य
4. मौलिक दर्शन ग्रन्थ
5. भाष्य या टीका ग्रन्थ
6. अन्य ग्रन्थ

1. **स्त्रोत्र साहित्यः-** श्री वेदान्तदेशिक द्वारा रचित स्त्रोतों का एक विशाल भण्डार है। इसके अन्तर्गत प्राकृत स्त्रोत अच्युत शतक को मिलाकर लगभग 26 स्रोत्र ग्रन्थ आते हैं-

(I) हयग्रीव स्त्रोत

(II) दशावतार स्त्रोत

(III) भगवद्ध्यान सोपानम्

(IV) गोपालविंशति

(V) श्री स्तुति

(VI) अतिस्तव

(VII) वरदराजपन्चाशत्

(VIII) वेगासेतु स्रोत्र

(IX) अष्टभुजाष्टक

(X) कामासिकाष्टक

(XI) परमार्थस्तुति

(XII) शरणागतिदीपिका

(XIII) देवनायकपन्चाशत्

(XIV) अच्युतशतकम्

(XV) देहलीश स्तुति

(XVI) न्यासतिलकम्

(XVII) रघुवीर गद्यम्

(XVIII) भू-स्तुति

(XIX) षोडशायुध स्रोत्र

(XX) सुदर्शनाष्टकम्

(XXI) गरुडदण्डक

(XXII) गरुडपन्चाशत्

(XXIII) यतिराजसप्तति:

(XXIV) पादुकासहस्रम्

(XXV) दयाशतकम्

(XXVI) गोदा स्तुति

(XXVII) न्यासदशकम्

2. **धार्मिक एवं अनुष्ठेय ग्रन्थ:-** इनकी संख्या 11 मानी गयी है। इनमें श्री वैष्णव सम्प्रदाय के अन्तर्गत निर्धारित कर्मो का अनुशीलन किया गया है-

(I) सच्चरित्र रक्षा

(II) निक्षेप रक्षा

(III) श्री पान्चरात्र रक्षा

(IV) न्यास विंशति

(V) द्रमिडोपनिषत्तात्पर्य रत्नावली

(VI) द्रमिडोपनिषत्सार

(VII) वैराग्यपन्चक

(VIII) हरिदिनतिलक

(IX) आराधनकारिका

(X) यज्ञोपवीतप्रतिष्ठा

(XI) वैश्वदेवकारिका

3. **काव्य ग्रन्थः**- आचार्य वेदान्तदेशिक की काव्य कृतियों का परिशीलन करने के पश्चात् यह ज्ञात होता है कि वे दार्शनिक एवं तार्किक होने के साथ ही साथ एक सहृदय कवि भी थे। उनके द्वारा रचित निम्नलिखित छः काव्य ग्रन्थ माने जाते हैं, जिनमें प्रथम चार ही सम्प्रति उपलब्ध हैं-

(I) यादवाभ्युदय (महाकाव्य)

(II) संकल्प सूर्योदय (नाटक)

(III) हंस सन्देश (खण्डकाव्य)

(IV) सुभाषित नीवी (उपदेशात्मक नीति काव्य)

(V) समस्या सहस्र (अनुपलब्ध)

(VI) यमक रत्नाकर (अनुपलब्ध)

4. **मौलिक दर्शन ग्रन्थः**- श्री वेदान्तदेशिक द्वारा विचरित मौलिक दर्शन ग्रन्थों की संख्या 12 मानी गयी हैं-

1. न्याय परिशुद्धि
2. न्यायसिद्धान्जन
3. तत्त्वमुक्ताकलाप
4. सर्वार्थसिद्धि
5. शतदूषणी
6. सेश्वरमीमांसा
7. अधिकरणसारावली
8. अधिकरणदर्पण
9. वादित्रयखण्डनम्
10. चकारसमर्थन
11. परमतभंग

5. **भाष्य या टीका ग्रन्थः**- स्वतन्त्र दार्शनिक ग्रन्थों के अतिरिक्त श्री वेदान्तदेशिक ने अपने पूर्वाचार्यो द्वारा लिखित अनेक दार्शनिक एवं अन्य ग्रन्थों पर टीका या भाष्य भी लिखा है। भाष्य या टीका होते हुए भी ये अत्यधिक महत्त्व के हैं। ये अधोलिखित हैं-

1. तत्त्व टीका (श्री भाष्य पर विवरण रूप टीका)
2. तात्पर्य चन्द्रिका (श्री रामानुज द्वारा लिखित श्रीमद्भगवद्गीता भाष्य पर व्याख्यात्मक टीका)

3. गीतार्थ संग्रह रक्षा (यामुनाचार्य जी द्वारा रचित 32 श्लोकी 'गीतार्थ संग्रह' पर व्याख्या)

4. रहस्य रक्षा ('गद्यत्रय', 'स्तोत्ररत्न' और 'चतु: श्लोकी' पर तीन अधिकरणात्मक भाष्य ग्रन्थ)

5. ईशावास्योपनिषद्भाष्य

6. वेदार्थ संग्रह व्याख्या (श्री रामानुज जी के वेदार्थ संग्रह पर व्याख्या रूप ग्रन्थ सम्प्रति अनुपलब्ध)

6. **अन्य ग्रन्थ:–** उपर्युक्त के अतिरिक्त श्री वेदान्तदेशिक जी ने संस्कृत में कुछ अन्य ग्रन्थों की भी रचना की है, जो निम्नलिखित हैं–

   1. भूगोल निर्णय

   2. शिल्पार्थ सार (सम्प्रति अनुपलब्ध)

अन्य भाषा शैली के ग्रन्थ:- संस्कृत के अतिरिक्त अन्य भाषाओं एवं शैलियों में भी श्री वेदान्तदेशिक जी ने अनेक ग्रन्थों की रचना की। जैसे– प्राकृत, तमिल तथा मणिप्रवाल आदि में। मणिप्रवाल शैली संस्कृत एवं तमिल के मिश्रण से निर्मित एक नयी भाषा है। इसमें लिपि तमिल की रहती है तथा शब्द प्राय: संस्कृत भाषा के ही रहते हैं। किन्तु उनके अन्त में विभक्तियाँ तमिल की जोड़ दी जाती हैं।

मणि प्रवाल शैली रचित वेदान्तदेशिक के ग्रन्थों को रहस्य ग्रन्थ कहा जाता है। इनकी संख्या 34 बतायी गयी है। इनमें भी छ: ग्रन्थ रहस्य और अट्ठाईस ग्रन्थ लघु रहस्य कहे जाते हैं। लघु रहस्य ग्रन्थों में भी अमृतरन्जनी में सत्रह और अमृतस्वादिनी में ग्यारह रचनाएं हैं।

रहस्य ग्रन्थः-

1. रहस्यत्रयसार
2. परमतभंग
3. गुरुपरम्परासार
4. परमपदसोपानम्
5. हस्तगिरिमाहत्म्यम्
6. स्तैयाविरोध

लघु रहस्य ग्रन्थः-

1. अमृतरञ्जनी
2. सम्प्रदायपरिशुद्धि
3. तत्त्वपदवी
4. रहस्यपदवी
5. तत्त्वनवनीतम्
6. रहस्यनवनीतम्
7. तत्त्वमातृका
8. तत्त्वसन्देश
9. रहस्य सन्देश
10. रहस्य सन्देश विवरणम्
11. तत्त्व रत्नावली विषय संग्रह
12. रहस्य रत्नावली

13. रहस्य रत्नावली हृदयम्

14. तत्त्वत्रयचुलकम्

15. रहस्यत्रयचुलकम्

16. सारदीप

2. अमृत स्वादिनी:-

1. सारसार
2. अभयप्रदान सार
3. तत्त्व शिखामणि: (सम्प्रति अनुपलब्ध)
4. रहस्य शिखामणि:
5. अन्जलिवैभवम्
6. प्रधान शतकम्
7. उपकार संग्रह
8. सार संग्रह
9. मधुर कवि हृदयम्
10. मुनिवाहन मौग:
11. विरोध परिहार:

श्री वेदान्तदेशिक द्वारा विचरित द्रामिड गाथारूप प्राप्त ग्रन्थों की संख्या अट्ठारह है। इन्हें ''श्री देशिक प्रबन्ध'' भी कहते हैं। इनके नाम इस प्रकार हैं-

1. मुम्मणिवकोवै (मणित्रयमाला)

2. पन्दुपा (कन्दुकगाथा)

3. कड्ल्पा

4. अम्मानैप्पा

5. अशल्पा

6. एशल्पा

7. अहैवकलप्पतु

8. अर्थपन्चकम्

9. श्री वैष्णवदिनचर्या

10. पन्निरुनामम्

11. तिरुचिन्नमालै

12. नवरत्नमाला

13. आहार नियम:

14. तिरुमन्त्रच्चुरुवकु

15. चरमश्लोकच्चुरुवकु

16. द्वयच्चुरुवकु

17. प्रबन्धसार

18. गीतार्थसंग्रहपट्टु (भाष्यरुप)

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त श्री वेदान्तदेशिक जी द्वारा विरचित छ: रचनाएं और भी बताई गई हैं, जो सम्प्रति अनुपलब्ध हैं[1]–

---

1 यादवाभ्युदय महाकाव्य मैसूर प्रकाशन 1945 प्रस्तावना- पेज 13, सर्ग 13/18

1. निगमपरिमलम्
2. गुरुरत्नावलिः
3. वृक्षभूमामृतम्
4. प्राकृतविशद्संग्रह
5. रसभूमामृतम्
6. शिल्पसारः

द्वितीय-अध्याय

यादवाभ्युदय महाकाव्य : कथावस्तु एवं महाकाव्यत्व

अध्याय-2

'यादवाभ्युदय महाकाव्य'

खण्ड(1)

संक्षिप्त कथावस्तु :

प्रथमसर्ग : यदुवंश वर्णन

महाकवि सर्वप्रथम यदुवंश की उद्भव परम्परा का उल्लेख करते हैं।

"आशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशोवापितन्मुखम्" इत्यादि शास्त्र-वचन का अनुसरण करते हुए कृष्ण देवता नमस्कार रूप मङ्गलाचरण करके आचार्य वेदान्तदेशिक यादवाभ्युदय महाकाव्य प्रारम्भ करते हैं। कवि विनय प्रदर्शन और कवि प्रशंसा के अनन्तर काव्य-प्रयोजन का निर्देश किया गया है। कवि ने श्रीमन्नारायण ने अपनी लीला से इस विचित्र विश्व की सृष्टि की। नारायण से चन्द्रमा, चन्द्रमा से बुध, और बुध से पुरुरवा उत्पन्न हुए। इसी पुरुरवा के वंश में नहुष उत्पन्न हुए। जो प्रतापी राजा थे। इन्द्र के हट जाने पर देवों ने इन्हें इन्द्र पद पर अभिषिक्त किया। नहुष से ययाति उत्पन्न हुए। इनके आदेश का उल्लंघन कोई राजा नहीं कर सका। ययाति से यदु का जन्म हुआ जो कि बहुत बड़े दानी थे। इन्हीं के वंश में वसुदेव नामक राजा हुए। कवि ने इनके ऐश्वर्य, प्रतापादि का बहुत सुन्दर वर्णन किया है। वसुदेव के रोहिणी और देवकी दो पत्नियां थीं। आकाशवाणी श्रवण से उत्पन्न भय के कारण कंस ने वसुदेव और देवकी को कारागार में डाल दिया। इसी बीच पृथ्वी ने ब्रह्मादि देवों के पास जाकर अपना दुःख सुनाया। दैवगण पृथ्वी के साथ क्षीरसागरशायी भगवान्

विष्णु के पास गये। उन्होंने विष्णु की स्तुति की। विष्णु ने कृपा करके उन्हें दर्शन दिया। शैव शैय्या पर लक्ष्मी के साथ विराजमान विष्णु की अपूर्व शोभा थी। देवों ने अपने आगमन का प्रयोजन बताते हुए पृथ्वी के दु:खों का वर्णन किया पृथ्वी ने विष्णु को प्रणाम किया। पृथ्वी ने मधुर वाणी में अपना दु:ख कह सुनाया। इसके बाद विष्णु ने देवों को पृथ्वी पर राजाओं के रूप में अवतार लेने का सुझाव दिया। देवों और पृथ्वी को आश्वासन देकर भगवान् विष्णु ने देवकी से उत्पन्न होने का संकल्प किया।

द्वितीय सर्ग : कृष्णावतार वर्णन

देवकी में गर्भ के लक्षण दिखायी पड़ने लगे। जगदाधार विष्णु के गर्भ में जाने के कारण उनका दौहद भी असाधारण था। कमी वह चित्रपट पर सम्पूर्ण विश्व का चित्र बनाती, कभी स्वप्न में अपने को गरुड पर सोया हुई, पद्म पर बैठी हुई और किन्नरों द्वारा स्तुति की जाती हुई देखती और कभी देवों को नाम लेकर पुकारने लगतीं। विष्णु को गर्भ में जानकर वसुदेव बहुत प्रसन्न हुए। एक दिन विष्णु के जन्म को मानो सूचित करने वाली सन्ध्या आयी। धीरे-धीरे सायंकाल लालिमा समाप्त हुई और घोर अन्धकार छा गया। कुछ रात बीती। काम के प्रदीप्त बाणों के सदृश चन्द्रमा की किरणों से दिशायें प्रकाशित हो गयी। आकाश चन्द्रकिरणों के सम्पर्क से अविद्या सदृश तमिस्रा से मुक्त हो गया। वह रात्रि देवकी सी प्रतीत हुई। कृष्ण-जन्म का पुण्यतम काल आया। कंस के महलों में जलते हुए दीपक और तपस्वियों के हृदय के ताप शीघ्र ही शान्त हो गये। भाद्रपद (दक्षिण के श्रावण) मास की कृष्णाष्टमी तिथि को

पूर्व सन्ध्या रूपी देवकी ने पद्म रूप निखिल भुवन के क्लेश को दूर करने के लिए अनपाथ सूर्य अर्थात् (कृष्ण) को जन्म दिया।

तृतीय सर्ग : श्री कृष्ण का नन्दगृह प्राप्ति वर्णन

कृष्ण के जन्म लेने पर दिशायें प्रकाशित हो गयीं। अप्सराओं ने नृत्य किया, किन्नरों ने गीत गाया, दैव दुन्दुभियों ने वसुदेव को आनन्दित किया। मेघ गरजने लगे। शीतलमन्द सुगन्ध वायु बहने लगी। मथुरा के देवता प्रसन्न होकर भक्तों को अभीष्ट वर देने लगे। असुर राजाओं के घर में अपशकुन तथा देवों के घर में शुभसूचक चिन्ह दीखने लगे। वसुदेव जी हथकड़ी से छूट गये। सम्पूर्ण वचनों को छुड़ाने वाले (कृष्ण) के सानिध्य में रहने पर बेड़ी के छुट जाने में क्या आश्चर्य है। शंख चक्रादि से युक्त बालक ने पिता को आनन्दित किया। वसुदेव ने भगवान् कृष्ण की स्तुति करके प्राकृत शिशु का रूप धारण करने का प्रार्थना की। भयभीत वसुदेव को कृष्ण ने प्राकृत शिशु बनने की सान्त्वना दी। उन्होंने अपने को नन्द के घर ले जाने और वहां के कन्या ले आने का आदेश दिया। वसुदेव ने कृपा से हल्के हो नये बालक को गोद में उठा लिया। तत्क्षण फाटक खुल गये। रक्षक शिलाओं के समान निश्चेष्ट हो गये। गृह-देवताओं ने मार्ग दिखाया। वसुदेव शीघ्र ही यमुना तट पर पहुँच गये। भवसागर के दृढ़ पोत कृष्ण को लेकर यमुना को पार करके वसुदेव घौण के समीप आये। यशोदा के समीप कृष्ण को लिटा कर जल्दी ही उत्पन्न गौप कुमारिका को लेकर वसुदेव ने शीघ्र ही यशोदा का घर छोड़ दिया। कंस कृष्ण और .कन्या के परिवर्तन को नहीं जान सका। उसने कन्या को मार

डालने के लिए पत्थर पर पटका, किन्तु वह कंस को पैर से ठोकर मार कर आकाश में उड़ गयी। उड़ने के बाद उसने कंस को मारने वाले कृष्ण का वृत्तान्त सुनाया। योग माया द्वारा उपहासित दुःखी कंस ने देवकी के साथ वासुदेव को छोड़ दिया। यशोदा ने जगने के बाद हरि को पुत्र रूप में देखा। यादव-कुल में असंख्य अप्सराओं ने जन्म लेकर कृष्ण के साथ युवावस्था में क्रीड़ायें कीं। ब्रजवासियों ने कृष्ण को पाकर इन्द्र-पद को भी तुच्छ समझा।

चतुर्थ सर्ग : बाल लीला वर्णन

निर्दय कंस ने दुर्दम असुरों को बुलाकर नन्द के निवास स्थान पर भेजा। एक दिन ब्रजवासियों के सो जाने पर कंस द्वारा प्रेषिता मायाविनी पूतना यशोदा का रूप धारण करके ब्रज में गयी। उसने कृष्ण को विषभरे स्तनों से दूध पिलाने लगी। कृष्ण ने दूध के साथ पूतना के प्राणों को भी पी लिया। किसी समय यशोदा ने कृष्ण को खटोले पर सुला दिया था। उन्होंने विशाल शकट रूप असुर को पैरों से नष्ट कर दिया। कृष्ण घुटनों के बल चलने लगे। धीरे-धीरे कुछ और बड़े हुए, दो-एक पग चलने लगे। बार-बार माखन की चोरी करने पर तथा अदोह काल में बछड़ों को छोड़ देने के कारण माँ यशोदा ने उन्हें बांधना चाहा। सम्पूर्ण रस्सी के छोटी पड़ जाने पर माँ को घबड़ायी हुई समझ कर कृष्ण ने अपने को बांधने योग्य बना दिया। ऊखल के खींच देने पर दो अर्जुन के वृक्ष टूट गये और नारद के शाप से दोनों यक्ष मुक्त हो गये। उस स्थान पर पूतनादि के उत्पात को देखकर कृष्ण के साथ सभी गौप वृन्दावन चले

गये। तृणावर्तादि दैत्यों के वध से प्रसन्न कृष्ण ने बलराम के साथ वन का उपभोग किया। गोपों ने वकासुर के पंखों को सब जगह बांध दिया। एक बार गोप कन्याओं ने किसी फल की इच्छा से कृष्ण को प्रसन्न करने के लिए कन्या व्रत का अनुष्ठान किया। तट पर रखे उनके वस्त्रों को लेकर कृष्ण कदम्ब पर चढ़ गये। चालवाली गोपागंनाओं के एक हाथ से किए गए प्रणाम को अस्वीकार करते हुए कृष्ण एक-दूसरे से मिलाकर हाथ जोड़कर किए गए उनके प्रणाम से प्रसन्न हुए। किसी समय बलराम और कृष्ण ने गर्दभ रूप धारण किए हुए धैनुक दैत्य को मार कर साथियों को सन्तुष्ट किया। एक दिन सभी गोप कुमार खेल रहे थे तो प्रलम्ब नामक दैत्य बलराम को लेकर आकाश में उड़ गया। वह दैत्य बलराम के मुष्टि-प्रहार से आहत होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा। किसी दिन बलराम के बिना ही कृष्ण गायों के साथ वन में गये। कालियानाग के विष से कज्जल सदृश काली यमुना को देखकर अहीन्द्र कालिया को मारने के लिए कृष्ण एक कदम्ब के वृक्ष पर चढ़ गये तथा वहां से यमुना में कूद कर कालिया का वध किया।

पंचम सर्ग : ऋतु वर्णन

कालिया मर्दन के अनन्तर ग्रीष्म ऋतु का आगमन हुआ। वृन्दावन में कृष्ण के रहने के कारण न तेज हवा चलती थी, न सूर्य जल को तप्त करते थे और न दावाग्नि वनराशि को जलाती थी। गर्मी की तीक्ष्णता के कारण व्याघ्रादि भूख से पीड़ित होकर गायों की हिंसा करेंगे, यह सोचकर कृष्ण ने बलदेव के साथ आखेट क्रीड़ा की। किरणों को संहृत करके सूर्य

के दक्षिण दिशा में प्रस्थान करने पर कृष्ण ने गर्मी के कारण लुप्त रूप वाली वर्षा की सृष्टि करनी चाही। तरंगों से चंचल अम्बुज रूप तालवृक्ष वाली, भ्रमर समूह रूप मयूरच्छत्रवाली तथा कम्पित हंस पङि्कत रूप चमार वाली नदियों ने कृष्ण की सेवा की। शरद् ऋतु का आगमन हुआ। मेघरथ हंस मालायें त्रैलोक्य लक्ष्मी के हार सी प्रतीत हुईं। मार्ग पंक से रहित हो गये। सोते हुए कृष्ण को मानो जगाने के लिए राजहंसों ने प्राभाति तूर्य नाद किया। भगवान् विष्णु ने जानकर स्वधर्मानुरूप प्रजाओं में जागृति प्रदान किया। श्रेष्ठ गोपों ने इन्द्र के ध्वज को ऊपर उठाकर गीत-नृत्यादि सम्पृक्त एक उत्कृष्ट उत्सव मनाया।

षष्ठ सर्ग : गोवर्द्धन वर्णन

कृष्ण ने गोप गणों सहित नन्द को इन्द्र का पूजन करने से रोक दिया। उन्होंने कहा कि यदि कोई व्यक्ति अपने देवता को छोड़कर दूसरे देव की पूजा करता है तो वह दोनों देवों से परित्यक्त हो जाता है और पाप करता है। गोवर्द्धन पर्वत ही हमारा देवता है। इन्द्र से हमें क्या प्रयोजन? पर्वत ही हमारा भरण-पोषण करता है, इन्द्र नहीं। इसलिए आप लोग स्थिर पर्वत की ही उपासना करें, अस्थिर देवों की नहीं। इसे विश्वम्भर समझना चाहिए। सांसारिक तापों को दूर करने वाले इस पर्वत की पूजा करने से देवों का भय सुखपूर्वक पार किया जा सकता है। इसी प्रकार शताधिक श्लोकों में कृष्ण ने गिरि के माहात्म्य का ख्यापन करके उसी की पूजा का समर्थन किया। कृष्ण के इस प्रकार कहने पर गोप बृद्धों ने श्यामलांग अशरणों के शरण कृष्ण को पर्वत के शिखर पर देखा।

समीप उपस्थित लोगों के द्वारा कृष्ण मनोरथों की पुञ्जित राशि कल्प अनुभव किए गए। उस समय कृष्ण और गिरि शिखर रथ कृष्ण में परस्पर प्रतिबिम्ब बुद्धि से गमनागमन करने वाले गोपों के नेत्र धन्य हो गये।

सप्तम सर्ग : गोवर्द्धन धारण

उदारचेता गोपों ने इन्द्र की पूजा के लिए लायी गई सामग्री से कृष्ण की पूजा की। अपनी पूजा न किए जाने से इन्द्र बहुत रूष्ट हुए। इन्द्र अपनी भोजन सामग्री को खींचकर अन्यत्र दे देने वाले गोपों को विनष्ट कर देना चाहा, क्योंकि कृतघ्नों के प्रति किया गया व्यवहार क्रूरता नहीं कहा जाता है। गोप वल्ली को नष्ट करने के लिए इन्द्र ने संवर्तक नामक मेघगण को बुलाया। ईर्ष्यावश इन्द्र द्वारा प्रयुक्त आकालिकी वर्षा को कृष्ण ने अपनी शक्ति से नहीं रोकना चाहा। प्रदीप्त विद्युद्गण के कारण दुर्निरीक्ष ध्वनि से कर्ण को विदीर्ण करने वाले धरान्शर पंक्ति की वर्षा करने वाले मेघों को ब्रजवासी सहन करने में समर्थ नहीं हुए। जिसकी पूजा करने से यह आपत्ति आयी है, उसी से गोपगणों की रक्षा करने के लिए कृष्ण ने बलराम से मन्त्रणा की। कृष्ण ने गोवर्धन को अपने एक हाथ पर उठा लिया। गोपगण पहले की ही तरह स्त्री पुत्रों के साथ गो दोहन, मन्थन, सोना, जागना आदि कृत्य गोवर्द्धन के नीचे करने लगे। कृष्ण के अंग स्पर्श और दर्दनादि में रूकावट न होने के कारण ब्रज सुन्दरियों ने चिरकाल तक वर्षा होती रहने की प्रार्थना की। क्षणार्थ के समान सात दिन बीत गये।

इन्द्र के दर्पनाश के इच्छुक कृष्ण ने गिरि का प्रभाव स्थापित किया। इन्द्र द्वारा प्रयुक्त असंख्य मेघ निष्फल हो गये। मेघों को रोककर इन्द्र ने

कृष्ण की प्रपत्ति (शरणागति) करनी चाही। गोधन के साथ ब्रज में आते हुए गोपगणों ने नृत्य, गीतादि का सेवन किया। इन्द्र अन्तरिक्ष से उतर कर हाथ जोड़कर लज्जा के कारण गद्गद् वाणी में कृष्ण से बोले कि मैं गोकुल की रक्षा करने वाले आपको गवेन्द्र (पृथ्वीन्द्र) के रूप में अभिषिक्त करना चाहता हूँ। इन्द्र ने ध्यान करने से आयी हुई गंगा को देखा। इन्द्र द्वारा अभिषिक्त कृष्ण ने इन्द्र को स्वर्ग के लिए विदा किया। पत्नियों के सहित गोपों ने कहा कि जब बालक कृष्ण ही हमारे स्वामी हैं और गिरिराज नारायण स्वरूप हैं तो इन्द्रादि तुच्छ देवों से हमें क्या लेना है।

अष्टम सर्ग : रास लीला वर्णन

बसन्त ऋतु का आगमन हुआ। पंचायुध पंचवक्त्र मनस्विनियों के मान मर्दन के कारण पलाश कोशाकृति ग्रहण करने वाले सशोणित नाखूनों से सुशोभित हुआ। सज्जनों से वन्दनीय बछड़ों के पीछे चलने वाले कृष्ण ने प्रसन्न होकर कुतूहल से बिहार किया। प्रभूत पुष्प फलादि का प्रसव करने वाले उत्कृष्ट वनों को देखकर कृष्ण ने अपने विषय में चिन्ता पर ब्रज सुन्दरियों का स्मरण किया। कृष्ण ने ब्रजांगनाओं को बुलाने के लिए वेणु-वादन किया। कृष्ण के दिव्यगीत एवं विलास वाक्यों के सदृश वेणुनाद से प्रयोजन को जानने वाली सुन्दरियां अपने घरों से आ गयीं। तरूणियों ने मधुर वेणु बजाने वाले, मनोहर हास वाले कृष्ण को किसी कदम्ब के नीचे स्थित देखा। सुन्दरियां कृष्ण को घेर कर खड़ी हो गई। कृष्ण करिणियों के मध्य में वारणेन्द्र के समान सुशोभित हुए। कर्मापरवश कृष्ण ने

गोपांगनाओं की पूजा के फल प्रदान मात्र के लिए लीलाएं कीं। कृष्ण न तो प्रमदाओं के मद से अन्धे हो गये थे, न तो गोपांगनाओं की अभीष्ट फल प्रदान करने में कोई बुराई ही थी, क्योंकि परम कृपालु भगवान् भक्तों को अभीष्ट प्रदान करने में सदा तत्पर रहते हैं। यहाँ धर्म मर्यादा के उल्लंघन का भी लेश नहीं है, क्योंकि परमात्मा "सर्वानतर्यामितया सर्वशरीरकत्वैन्" विद्यमान हैं उसके लिए स्व, पर देह का भेद ही नहीं है। यह भगवल्लीला शुद्धात:करण वाले मुमुक्षुओं के लिए ही चिन्तन करने योग्य हैं। अपने प्रसार्धनादि से प्राप्त दुरहंकार रूप मद को दूर करने के लिए सबके हृदय में स्थित होते हुए भी कृष्ण दूर चले गये। कृष्ण को न देखकर तरूणियां बहुत दु:खी हुईं। उनके विरह में गोप कन्यायें गुणों और चरित्रों का गान करने लगीं। कृष्ण ने उन्हें अपना दर्शन देना चाहा। वे सामने ही प्रकट हो गए। विलासपूर्ण उक्तियों, दर्शन आदि के द्वारा आनन्दित करते हुए कृष्ण ने उन्हें सान्त्वना दी। कृष्ण ने राग बढ़ाने वाली रासलीला प्रारम्भ की। चरणाश्रितों के भ्रम को शान्ति करने वाले कृष्ण ने हजारों प्रिय गोपियों को घुमाया। अपूर्व प्रीति उत्पन्न करते हुए कृष्ण रास से विरत हुए। रासलीला से उत्पन्न गर्मी को शान्त करने के लिए कृष्ण ने यमुना में जल-क्रीड़ा करने की इच्छा की। यमुना मानो ईर्ष्या के कारण प्रमदाओं के अलक्तक, अञ्जन आदि को दूर करती हुई प्राकृतिक सौन्दर्यातिशय को प्रकाशित करने के कारण उपकार करने वाली ही हुई। पाप सागर से जांघों को पार करने वाले कृष्ण के नदी के प्रवाह से निकलने पर देवों द्वारा प्रेषित अप्सराओं ने वस्त्रांगरागादि के द्वारा अलंकृत किया। ब्रजांगनाएं भी देवांगनाओं से अलंकृत हुईं। बिहार करके ब्रजाभिमुख

होने पर कृष्ण के सामने अरिष्ट नामक वृषभ गायों के समूह को दौड़ा रहा था। वह घबड़ायी हुई गायों वाले ब्रज को छोड़कर कृष्ण की ओर गया। कृष्ण ने उसकी दोनों सींगों को पकड़कर उसे मार डाला। इसी प्रकार गायों तथा गोपों को कष्ट देने वाले अनेक असुरों का कृष्ण ने प्रतिकार किया।

नवम सर्ग : मथुरागमन

कंस पृथ्वी पर विष्णु के अवतार हो जाने का समाचार नारद के मुख से सुनकर बहुत दुःखी हुआ। उस बालक ने पूतना का वध कर दिया, विशाल शकट को नष्ट कर दिया, यमलार्जुन को गिरा दिया, कालिया नाग को समाप्त कर दिया, गोवर्धन को उठा लिया, धनुकासुर को मार डाला, दावाग्नि को पी लिया और अजगर को फाड़ डाला इत्यादि सोचने से क्या लाभ? बलवान और वेगशील भाग्य की धारा में जो बीत गया वह तो बीत गया। अब आगे आने वाले समय के योग्य करना चाहिए। इस प्रकार उसने कृष्ण को मारना चाहा। उसने अक्रूर से कहा-स्वयं विष्णु मनुष्य के रूप में आकर असुरों को मारना चाहते हैं, बाल्यावस्था में ही इनका दमन कर देना चाहिए। अतः बिना विचार किए आप शीघ्र जाकर बलात् अथवा छल से बलराम और कृष्ण को ले आइये। इस प्रकार अक्रूर से कहकर कंस ने कृष्ण को कष्ट देने के लिए केशी नामक असुर को शीघ्र भेजा। केशी ब्रज में जाकर कृष्ण के सामने अनेक उपद्रव करने लगा। मृत्यु के समान उपस्थित पर्वत सदृश केशी को कृष्ण ने व्रज सदृश भुजाओं से विदीर्ण कर दिया। अक्रूर शीघ्र ही ब्रज

पहुंचे। भक्ति से झुके हुए अक्रूर ने बिना प्रणिधान के दिखायी पड़ने वाले अद्भुत गोपक्रीड़ा करने वाले कृष्ण की स्तुति की। पूछे जाने पर अक्रूर ने कंस द्वारा कहा गया सब वृतान्त कृष्ण से बता दिया। दूसरे दिन अक्रूर ने बलराम और कृष्ण को मार्ग में स्थित रथ पर चढ़ाया। बलभद्र और कृष्ण को जाते देखकर ब्रजांगनाएं विलाप करने लगीं। वे अक्रूर पर रूष्ट होकर कहने लगीं कि यह गोकुल के नेत्र (कृष्ण) को उखाड़ लेने वाले अक्रूर कैसे कहे जाते हैं? अथवा इसमें कोई आश्चर्य नहीं है, क्योंकि पृथ्वी पर दारूण कर्म करने वाले निशाचरों को 'पुण्य जन' कहा जाता है। कृष्ण मथुरा जाने पर लौट कर नहीं आवेंगे। वे नगर स्त्री जनों के नेत्र पाश को पार करने में समर्थ नहीं हो सकते हैं। इस प्रकार लगभग 35 श्लोकों में गोपांगनाओं के विलाप करते रहने पर उनका रथ क्षण भर में यमुना पर पहुंच गया। हो रहे वाणोत्सव वाले नगर मथुरा में बलराम और कृष्ण को अक्रूर लिवा आये। मनोहर गमन विलास वाले तथा रण को उत्कर्ष चाहने वाले कृष्ण ने बलराम के साथ राजधानी में प्रवेश किये।

दशम सर्ग : कंस वध

राजमार्ग पर प्रवेश करते हुए बलराम और कृष्ण को पुरवासियों ने देखा। इसके बाद उन्होंने धनुः शाला में प्रवेश किया। वहां पर्वत सदृश, ब्रज की तरह कठोर, पिनाक के समान देवों से भी दुर्दम्य धनुष को कृष्ण ने देखा और हाथ से झुका कर तोड़ डाला। धनुशाला को पार करके वे मल्लयुद्ध मण्डप के द्वार पर गये तथा वहां कुवलयापीड नाग को पृथ्वी पर गिरा दिया फिर वे दोनों रंगशालाओं में गये। वहां उच्च आसन पर

स्थित कंस को कृष्ण ने देखा। बालरूप, प्रख्यात पराक्रम बलराम और कृष्ण से युद्ध करने के लिए चाणूर और मुष्टिक आये। मल्लशाला के नट चाणूर को कृष्ण ने उसी प्रकार मार डाला जिस तरह मधु नामक दैत्य को मारा था। बलराम ने घूंसों के प्रहार से मुष्टिक को मार कर गिरा दिया गया। युद्धभूमि में उनको गिरा देखकर कंस के अन्य योद्धा कृष्ण की ओर दौड़े किन्तु उन सब को उन्होंने पृथ्वी पर गिरा दिया। इसके बाद कृष्ण कंस के मंच पर कूद कर चढ़ गये। कंस के बालों को पकड़कर खींचते हुए उसे गिराकर वक्षस्थल पर चढ़कर कृष्ण ने उसके प्राणों को निकाल दिया। इसके बाद सदाचरण से स्थित उग्रसेन को कारागार से छोड़ दिया। कंस का भाई सुदाम क्रुद्ध होकर दौड़ा। बलराम के द्वारा उसकी भी वही दशा प्राप्त हुई जो कंस को मिली थी। इसके बाद उन दोनों ने युद्ध देखने वाले अपने माता-पिता (देवकी और वसुदेव) के पास जाकर प्रणाम किया। भगवदनुग्रह से तत्त्वज्ञान प्राप्त करके वसुदेव ने कृष्ण की स्तुति की। कृष्ण ने अमृतमय वाणी से उन्हें सान्त्वना दिया। अक्रूर आदि श्रेष्ठ यादवों द्वारा राज्य के लिए कहे जाने पर भी कृष्ण ने वयोवृद्ध उग्रसेन को ही राजा बनाया तथा स्वयं युवराज बनकर पृथ्वी की रक्षा का भार वहन करने लगे। सागरपर्यन्त पृथ्वी के राजाओं को जीतकर अपनी महिमा से ययाति के शाप को दूर करके कृष्ण ने उग्रसेन को पृथ्वी का एकछत्र राजा बनाया।

एकादश सर्ग : द्वारका प्रस्थान

कृष्ण की अद्भुत लीलाओं को सुनकर जरासन्ध आदि राजाओं में कंस का वध करने के कारण, क्रोध उत्पन्न हुआ। जरासन्ध ने अठारह बार विशाल सेना लेकर कृष्ण पर आक्रमण किया किन्तु कृष्ण भीम रूप शरीर से मारने की इच्छा के कारण उसे हर बार छोड़ देते थे। युद्ध करने के लिए कालयवन के जाने पर ब्राह्मण के अपमान से प्राप्ति यादव श्रेष्ठों के दुःख को दूर करने में समर्थ होने पर भी कृष्ण ने ऋषि की तपस्या के प्रभाव को बताने के लिए उसे नहीं रोका। अर्थात् मुचुकुन्द के द्वारा ही उसका वध कराया। श्रेष्ठ यदुवंशियों से मन्त्रणा करके कृष्ण ने मथुरा को छोड़कर दूसरी पुरी बनाने का संकल्प किया। सम्पूर्ण सेना के साथ वहां से प्रस्थान किया। समुद्र के तट पर सेना को रोक कर कृष्ण ने विश्राम किया। ध्यान करने पर आए हुए समुद्र को कृष्ण ने सन्तानों की रक्षा करने के योग्य, दिव्य देश सदृश द्वीप देने के लिए आदेश दिया। समुद्र ने दुर्ग निर्माण के योग्य द्वीप दे दिया। कृष्ण की प्रसन्नता के लिए ब्रह्मादि द्वारा भेजे गये विश्वकर्मा ने अनुपम राजधानी का निर्माण किया। पुरवासियों एवं परिजनों के साथ शुभ समय आने पर कृष्ण ने उस नगरी में प्रवेश किया। उस नगरी की शोभा वर्णनातीत थी। वह प्रकाशमान होने पर भी राम और कृष्ण से उसी प्रकार सुशोभित हुई, जिस प्रकार तारागणों के रहने पर भी त्रिलोक चन्द्र और सूर्य से ही अत्यन्त प्रकाशित होते हैं। बलराम फिर ब्रज में आये और अपने मित्रों आदि को आश्वासन देते हुए उन्होंने वारूणी का सेवन किया तथा हल से यमुना को खींचकर स्नान

करते हुए विहार भी किया। उन्होंने रेवत की पुत्री रेवती के साथ विवाह करके क्रीड़ायें कीं।

द्वादश सर्ग : रूक्मिणी वर्णन

भगवान् विष्णु के सभी अवतारों में लक्ष्मी भी तदनुरूप अवतार लिया करती हैं। भगवान् के कृष्ण रूप में द्वारका में निवास करने पर लक्ष्मी ने विदर्भ देश में अवतार लिया। उत्कृष्टापकृष्ट जीवों की जन्मदात्री ने विदर्भाधिपति भीष्मक की सन्तान बनकर रूक्मिणी नाम प्राप्त किया। बाल्य-क्रीड़ाओं को समाप्त करने के बाद वह अभिनव यौवन से युक्त हो गयीं। उनके अंगों की अनुपम शोभा हो गयी। भ्रमरी के समान वह पुष्पों के मध्य में बिहार करने के लिए घूमा करती थीं। सखी के द्वारा अभीष्ट वर के विषय में पूछे जाने पर अत्यधिक लज्जाशील रूक्मिणी अपने को ही देखने लगती थीं, इससे निश्चय ही वह अपने लक्षणों के अनुरूप, दूसरों से न जान सकने योग्य कृष्ण को ही सूचित करती थीं। जिस प्रकार कुत्ता हवि प्राप्त करना चाहता है, उसी प्रकार शिशुपाल ने रूक्मिणी को प्राप्त करना चाहा। एकमात्र कृष्ण को चाहने वाली रूक्मिणी को रूक्मी ने शिशुपाल के लिए देना चाहा। शिशुपाल के साथ विवाह का निश्चय हो जाने पर उसने वैवाहिक मंगलों को धारण किया। उसे आभूषणों से अलंकृत किया गया। पतिव्रता राजस्त्रियों ने उसे आर्शीवाद देकर देव दर्शन के लिए कर्णीरथ पर चढ़ाकर अनुगमन किया। उपास्य देवता इन्द्राणी ने आकाशवाणी से अपराजेय पति प्राप्त करने का उसे वरदान दिया। रूक्मिणी की बायीं जांघ, आंख और भ्रूलता फड़क कर कृष्ण की

उपस्थिति की सूचना देने लगी। इसी समय निकट स्थल पर ही बार-बार पान्चजन्य का नाद सुनायी पड़ा।

त्रयोदश सर्ग : रूक्मिणी परिणय

हरण करने योग्य समय पर उपस्थित कृष्ण ने प्राणेश्वरी रूक्मिणी को प्राप्त करना चाहा। रूक्मिणी के नेत्र चकोर के लिए कृष्ण चन्द्रमा थे एवं कृष्ण के आनन्द कमल के लिए रूक्मिणी प्रातः कालिक संध्या थीं। उस विचित्र जोड़े को देखने में सखियों ने अप्सराओं से समता प्राप्त की अर्थात् एकटक देखती रहीं। तुमने मुझे दूत के द्वारा बुलाया है और मैं यहां आ गया हूं। अतः तुम्हें किसी प्रकार का भय नहीं करना चाहिए इत्यादि कहते हुए मधुरभाषी कृष्ण ने रूक्मिणी की कलाई पकड़ ली। कृष्ण ने रूक्मिणी को मन के समान वेगशील रथ पर चढ़ा लिया। सेना सहित शिशुपाल एवं रूक्मी ने उनका पीछा किया किन्तु पीछे आती हुई सेना को कृष्ण ने अपनी भुजारूपी सेना के द्वारा रोक दिया। वे समुद्र रूपी परिखा को पार करके स्वर्गसदृशी द्वारिका में आये। द्वारिका में राजवीथी से राजमहल में जाते हुए श्रीकृष्ण और रूक्मिणी को देखने की त्वरा से आयी हुई पुरनारियों की विचित्र विलास चेष्टाएं हुईं। विवाह के समय सन्निहित मुनियों, सभासदों, पुरजनों, बन्दियों, याचकों, पुरोहितों आदि का यथोचित ढंग से सम्मान किया गया। कुलीन वृद्ध स्त्रियों ने वधू के अंगों को आभूषणों से ढांक दिया। मांगलिक माला में अक्षत का उन्होंने प्रयोग किया। कौतुक सूत्र बन्धन, लाजा होम, सप्तपदी, अग्नि परिक्रमा, अश्मारोहण, स्विष्टकृद्धोम, अरून्धती दर्शन, आर्शीवचन, यौतकार्पण आदि

कृत्य किये गये। पुरवासी गण उन्हें उत्तम उपहार प्रदान करके अपने घर आये। निरपाय कान्तिवाली रूक्मिणी को प्राप्त करके प्रसन्न कृष्ण ने यागानुष्ठानादि कृत्य आरम्भ किया। रूक्मिणी जिस प्रकार से तुच्छ राजा भीष्मक के घर में सुशोभित होती थीं, उसी प्रकार कृष्ण के साथ प्रकाशित हुई, क्योंकि स्वतः उत्कृष्ट जनों में आश्रयविशेष से कहीं न्यूनाधिक भाव नहीं देखा जाता है।

चतुर्दश सर्ग : स्यमन्तकोपाख्यान

एक बार सत्राजित की तपस्या से प्रसन्न होकर सूर्य प्रकट हुए और प्रभूत धन उत्पन्न करने वाली स्यमन्तक मणि उसे वरदान के रूप में प्रदान किया। उसे उग्रसेन के लिए कृष्ण ने प्राप्त करना चाहा, किन्तु इस बात को जानकर सत्राजित ने उस मणि को किसी ब्राह्मण के पास रख दिया, जो कि आगे चलकर भाई (बलराम और कृष्ण) के विरोध तथा अनेक व्यक्तियों के नाश का कारण बनीं। स्यमन्तक मणि के कारण उत्पन्न अपने मिथ्यापवाद को दूर करने के लिए कृष्ण ने जाम्बवान् के बिल में प्रवेश किया। वहां पर मणि को हरण करने की इच्छा वाले कृष्ण के साथ जाम्बवान् को मल्लयुद्ध करते हुए इक्कीस दिन बीत गये। जाम्बवान् को रावण के युद्ध में अपना सहायक समझ कर उसके अनेक उपकारों को स्मरण करके कृष्ण ने उसके दर्प को नष्ट कर दिया। कृष्ण को परमेश्वर समझकर जाम्बवान् ने हाथ जोड़कर स्तुति की। फिर उसने जाम्बवती को पत्नीरूप में स्वीकार करने तथा स्यमन्तक मणि को दहेज के रूप में ग्रहण करने के लिए कृष्ण से प्रार्थना की। मणि और जाम्बवती के साथ कृष्ण

द्वारिका आये। उस मणि को सभा में सत्राजित को दे दिये। स्यमन्तक मणि प्राप्त करने के बाद सत्राजित का दुःख शान्त हो गया। उसने कृष्ण के साथ अपनी पुत्री सत्यभामा का विवाह कर दिया। कृष्ण ने अन्य पांच देवियों से भी विवाह किया। आठ सिद्धियों के समान उनसे सेवित होते हुए लीला तत्पर कृष्ण ने निरवधि सुख का उपभोग किया।

पंचदश सर्ग : शिशुपाल वध

एक बार कृष्ण को देखने के लिए नारद मुनि गगन मार्ग में गीत गाते हुए आये। प्रसन्न होकर उन्होंने संसार का हित करने वाले कृष्ण से कहा- पुण्यों के उदय के कारण आपसे सिद्धि प्राप्त करके अपराध करने वाला यह हिरण्यकशिपु और रावण रूप का अनुभव करके इस समय शिशुपाल रूप में स्थित हैं। सदैव दुष्कर्म करने वाले शिशुपाल का भी मैं यह अहित नहीं सोच रहा हूं, वह आपके अस्त्रों से पवित्र होकर देवों के विमानों के साथ सत्कर्मो का फल प्राप्त करे। इस प्रकार लोक कल्याण कार्य का निवेदन करके, कृष्ण द्वारा की गयी यथोचित पूजा स्वीकार करके, शुद्ध चित्त नारद मुनि खलों के मन के सदृश मलिन आकाश में उड़ गये। युधिष्ठिर के द्वारा राजसूय यज्ञ प्रारम्भ किए जाने पर बुलाये गये कृष्ण युद्धप्रिय सेना के साथ उनके यज्ञ में गये। उस यज्ञ में कृष्ण की सर्वप्रथम पूजा करने के लिए युधिष्ठिर सेना में आये। इसे देखकर क्रोधाधिक्य के कारण खिल्ली उड़ाते हुए उद्धत शिशुपाल ने सभा में स्थित राजाओं से कहा- आप सब को तो यह ज्ञात ही है कि यज्ञस्थित यह कुन्ती का दुष्ट लड़का श्रेष्ठ राजाओं को स्वयं बुलाकर अपमान कर रहा है। इस प्रकार

शिशुपाल द्वारा युधिष्ठिर की निन्दा तथा कृष्ण की पूजा का विरोध किए जाने पर उसे परावर तत्त्वज्ञ भीष्म ने समझाना चाहा। किन्तु उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। वह भीष्म की ही निन्दा करने लगा। उसने कहा 'निपुण व्यक्तियों द्वारा बालकों और वृद्धों के वाक्यों को नहीं मानना चाहिए, ऐसा महापुरुष लोग कहते हैं। इस तरह उसने अनिन्द्य कुरू वंशपितामह की निन्दा की। शिशुपाल के कठोर वाक्यों को सुनकर उसे मारने के लिए उद्यत भीम को भीष्म पितामह ने रोक दिया। नारद मुनि ने भीष्म के वाक्यों की प्रशंसा की। फिर विनम्रतापूर्वक सहदेव ने कृष्ण की स्वयं पूजा की। इससे शिशुपाल बहुत क्रुद्ध हुआ। वह यदुवंशियों को युद्ध के लिए ललकार कर राज समूह से बाहर निकल गया। उसके मित्र राजाओं ने भी उसका अनुगमन किया। पाण्डवादि को यज्ञ चालू रखने की अनुमति देकर सेना के साथ कृष्ण भी रणस्थल पर गये। श्री कृष्ण ने सुदर्शन चक्र से शिशुपाल का सिर काट दिया। सहस्रों सूर्य के सदृश शिशुपाल का तेज कृष्ण के शरीर में प्रविष्ट हो गया। शिशुपाल ने योगियों की चरमावस्था (मुक्ति) प्राप्त की। युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ के समाप्त हो जाने पर कृष्ण ने अपनी नगरी के लिए प्रस्थान किया।

षोडश सर्ग : नरकासुर वध

जंगम श्वेत पर्वत के समान ऐरावत पर चढ़कर इन्द्र कृष्ण की नगरी द्वारिका में पधारे। अनुगामियों के साथ ऐरावत को द्वार पर छोड़कर इन्द्र स्वर्ग से भी अधिक सुन्दर हरि के निवास स्थान पर गये। कृष्ण द्वारा की गयी पूजा को स्वीकार करके इन्द्र ने गद्गद्वाणी से अपने भय का वर्णन

किया। नरक नामक दैत्य देवों को पीड़ित करता है। सभी प्राणियों की जन्मदात्री आपकी पत्नी पृथ्वी उसे जन्म देकर आपकी उपेक्षा के कारण बहुत दुःखी है। वह देवों, दानवों, सिद्धों और राजाओं की आपके योग्य कन्याओं का अपहरण करके विवाह करने के लिए उतावला हो रहा है। सभी पापों के मूल कारण, धर्म में बाधक, वध योग्य नरकासुर के विषय में निवेदन करना हमारा (इन्द्र का) कार्य था वध करना आपका हिस्सा है। इस प्रकार इन्द्र के कहने पर कृष्ण ने गरुड़ का स्मरण किया। स्मरण करते ही गरुड वहां उपस्थित हो गये। इन्द्र को उनके निवास स्थान पर भेजकर कृष्ण ने नरकासुर की राजधानी प्राग्ज्योतिषपुर के लिए प्रस्थान किया। उसके नगर में पहुंचकर दैत्यों और दानवों का सहारा करने वाले कृष्ण ने प्रलयसागर के समान ध्वनि करने वाले पाञ्चजन्य को बजाया। उसे सुनकर नरकासुर अपने विशाल नगर से निकला। दोनों दलों की सेनाओं में घोर युद्ध हुआ। कृष्ण ने बाणों की वर्षा से नरकासुर के निस्सहाय बना दिया। कृष्ण ने कुटिला चरण वाले नरकासुर का शिर राहु के सिर के समान अपने चक्र से काट दिया। कटे हुए सिर वाले पुत्र को पृथ्वी ने अपनी गोद में ले लिया। और कृष्ण से अपने पुत्र की उत्तम गति के लिए याचना की। फिर उसने शीतल सूर्य द्वय सदृश प्रकाशमान दो कुण्डलों को अदिति के लिए समर्पित किया। इसके बाद कृष्ण के आदेश से सत्यभामा द्वारा प्रणाम की गयी पृथ्वी अपने निवास स्थान पर चली गयी। कृष्ण ने नरकासुर के महल को देखा। पुण्यों के सर्वस्व स्वरूप, सम्पदाओं के साम्राज्य सदृश, सिद्धियों के संग्रह कल्प उस युवतियों के समूह को कृष्ण ने ग्रहण किया। स्वर्ग और पृथ्वी पर उस दिन खूब दीपक जलाये गये।

इसी से नरकासुर के वध का वह दिन कार्तिक कृष्ण चतुर्दशी कृष्ण की पूजा के योग्य हो गया।

सप्तदश सर्ग : पारिजात हरण

नरकासुर द्वारा अपहृत वरुण के आतपत्र को, मन्दराचल के उन्नत मणिश्रृंग को तथा सत्यभामा सहित कृष्ण को अनायास ही लेकर गरुड़ स्वर्ग गये। देवों ने स्तुतियों से तथा पुष्पों की पुष्कल दृष्टि से कृष्ण की पूजा की। कृष्ण ने स्वर्ग में जाकर अदिति को कुण्डल प्रदान किया। अवशिष्ट कार्यों को पूरा करने के लिए कृष्ण ने पृथ्वी का रास्ता पकड़ा। कामदेव के राजगृह के समान नन्दनोद्यान की समृद्धि को कृष्ण ने देखा। कल्पवृक्ष को उन्होंने अपने गृहोद्यान में स्थापित करने का विचार किया। गरुड़ ने कल्पवृक्ष को उखाड़ कर अपने पंखों पर रख लिया। अभूतपूर्व इस वृतान्त को इन्द्र ने सुना। क्षण भर के लिए वह भय और क्रोध की दोला पर आरूढ़ हुए। अन्त में पारिजात के विषय में आग्रह युक्त चित्तवाले इन्द्र के द्वारा क्रोध ही स्वीकार्य हुआ। देवराज इन्द्र और यदुराज कृष्ण के इस भयंकर युद्ध को देखने के लिए ब्रह्मा के साथ प्रणिधान छोड़कर सनन्दनादि ऋषिगण भी उपस्थित हुए। गरुड के पंखों की हवा से लौटाये गये बाणों से देवों की पूरी सेना बिंघ गयी। नरकासुर वध, निज गृहगमनादि, पूर्व सत्कार का विचार न करने वाले वृक्षमात्र के कारण युद्ध तत्पर अस्त्र सहित इन्द्र को कृष्ण ने देवों के सम्मुख ही जीत लिया। इन्द्र ने अपने देवराजत्व को धिक्कारा तथा बार-बार अपनी निन्दा की। कृष्ण द्वारा किये गये उपकार को भूलाकर अपराध करने के लिए इन्द्र ने क्षमा

मांगी। अन्तःकरण की शुद्धि से सम्पुक्त अक्षरों वाले इन्द्र के वचन को सुनकर कृष्ण ने दीनों की रक्षा करने वाली दया अपनायी। सत्यभामा और कृष्ण ने इन्द्र से कल्पवृक्ष को ले जाने के लिए कहा तो उन्होंने कहा कि नहीं, आप ही ले जाइए, आपके साथ फिर बाद में आ जायेगा। फिर गरूडारूढ़ कृष्ण ने बलराम द्वारा रक्षित अपनी राजधानी द्वारिका के लिए प्रस्थान किया।

अष्टादश सर्ग : स्थल वर्णन

विहंगराज से अपनी पुरी के लिए लौटते हुए कृष्ण ने मार्ग में आने वाले स्थानों का वर्णन करते हुए सत्यभामा से कहा-'हे सत्यभामा, पारिजात से रहित स्वर्ग लक्ष्मी को देखो, वह आचरणहीन, वेदविद्या, चन्द्ररहित निशा एवं पतिविहीन नारी के समान शोभा नहीं देती। यह सुमेरूपर्वत है, चारों ओर घूमते हुए सूर्यादि नक्षत्र मानो पर्वतों में श्रेष्ठ उसकी आरती कर रहे हों। यह देखो मण्डलाकार पृथ्वी है। ये दिव्य वर्ण पर्वत हैं, उन्हें देख लो। सामने यह पर्वतों और वनों से युक्त पृथ्वी शोभित हो रही है। शरत्कालीन मेघ समूह के समान समीप आता हुआ कैलास दिखायी पड़ता है। यहां पर हिरण्यासुर प्रभृति से उपाक्रान्त शोणितपुर नामक नगर है। दूर से ही दिखाई पड़ने वाले क्रौञ्च पर्वत को देखो। इससे दूर मन्दराचल दिखायी पड़ रहा है, जिस उन्नत पर्वत से देवों ने अमृत के उद्भवस्थल समुद्र का मन्थन किया था। भारतवर्ष की सीमा के अलंकारभूत पर्वतराज हिमालय पर हम आ गये हैं। यह विष्णु के पराक्रम की पताका गंगा है

जो कि तीनों लोकों को अलंकृत करती हुयी पाप से हटाकर लोगों को पवित्र करती है।

गंगा के निकट दक्षिण और देवों से प्रशंसित दिव्य बदर्याश्रम दिखायी पड़ रहा है। यह हिमालय और विन्ध्य के मध्य स्थित सज्जनों से भूषित पवित्र एवं विशाल आर्यावर्त देश है। यह कुरुक्षेत्र है। तुम्हारे बायीं ओर सरयू के सहित रघुवंशियों की नगरी अयोध्या सुशोभित हो रही है। दाहिनी ओर कालिन्द पर्वत दिखायी पड़ रहा है। यहां अपने पिता के पास से आती हुई यह यमुना है। पृथ्वी शरत्कालीन धान्यों से पश्चिमोदधि पर्यन्त परिपूर्ण दीखती है। थोड़ा मुड़कर दिव्यदेशों के समान इन जनपदों को तो देखो। धान की बालों को लेकर जाती हुई यह शुक पंक्षी तुम्हारे आगमन से प्रसन्न शरत् ऋतु द्वारा प्रयुक्त आकाश की तोरण माला सी शोभित होती है। इसके बाद कृष्ण आकाश (गरुड) से दृष्टिगोचर समुद्र और द्वारिका का वर्णन करते हैं। तदनन्तर कृष्ण नगर के मध्याकाश से अपने महल के निकट वाले मार्ग पर आये। फिर काम के बाणों (पुष्पों पर शयन करने वाली) प्रियतमाओं के धीरे-धीरे उठने (स्वागतार्थ) का अनुभव करते हुए अपने महल में गये। त्रिलोकदर्शी नारद ने यादवों की सभा में जाकर बाणासुर द्वारा बाँधे गये उषा और अनिरूद्ध का वृतान्त बताया। इसके बाद अनिरूद्ध को बांधने वाले बाणासुर को जीतने के लिए दूसरे दिन सेना के प्रयाण की घोषणा करके कृष्ण शयनागार में चले गये।

एकोनविंश सर्ग : सुप्रभात वर्णन

श्री कृष्ण को श्रुति रूप वन्दियों ने प्रातःकालिक गीतों से जगाया। इसी का वर्णन इस सर्ग में किया गया है। वन्दीगणों ने प्रभात के दृश्यों का बहुत मनोहर वर्णन किया है। पुरोहित नियमपूर्वक यज्ञीय अग्नि का आधान करके घूम रहे हैं। शयनकाल में ग्रहण किए हुए मौन व्रत को मुग्ध वधू जनों की कांची छोड़ रही है, अर्थात् वे सोकर उठ गयी हैं। चिरकालीन थकान से शांति चाहता हुआ काम नितम्बिनियों के हृदय में सोना चाहता है। सम्पूर्ण किरण समूह से सुन्दर, गोलाकार, बराबरी पर स्थित सूर्य और चन्द्र बिम्ब से कालवणिक द्वारा प्रयुक्त रात दिन तौलने के लिए तराजू सी गगन मण्डल की शोभा हो रही है। अस्त होता हुआ चन्द्र तुम्हारे शत्रुओं की स्त्रियों के मुखचन्द्र की दशा प्राप्त कर रहा है। वापियों में हंस अपने पंखों की हवा से सुगन्धित कमल के पराग समूह को चारों ओर फैलाते हुए बार बार कामाग्नि को उद्दीप्त कर रहे हैं। निपुण सारथीगण रथ को सजा रहे हैं। चामर सदृश लम्बे पंखों से राजहंस परिजनों के समान हवा झल रहे हैं। उपवन के भ्रमरों के गीत, पवन द्वारा प्रेरित लताओं के नर्तन एवं हाथियों के कर्णताल से प्रातः कालोचित संगीतकृत्य प्रतीत हो रहा है। अतः हे देव! शेषनाग के समान रुचिर पर्यंक को छोड़ते हुए आप पवित्र दृष्टिपात् से हमारे पुण्य को फलोन्मुख बनायें। वन्दियों द्वारा यह निवेदन करने पर कि प्रातःकाल हो गया है, निद्रा को जीतने वाले यादवेन्द्र कृष्ण जग गये। वेदों के सर्वस्व के समान धर्म को स्थापित करते हुए तीनों लोकों के लिए विधेय सान्ध्य कर्म को निष्पन्न

करके श्वेत वस्त्रों से अलंकृत प्रधान मन्त्रियों से सेवित कृष्ण ने हिरण्यमय सिंहासन को अलंकृत किया।

विंश सर्ग : वाणासुर विजय

कृष्ण ने उत्तर दिशा के लिए सेनानियों के साथ प्रस्थान किया। उनके आगे दैत्यों से युद्ध-क्रीड़ा के इच्छुक बलराम यदुवंशी राजाओं की सेना लेकर चले। दैत्य राजाओं के दर्प को चूर करने वाले कृष्ण ने समीप आने पर सामने शोणितपुर को देखा। शंकर जी के आदेश से नगर की सीमा के रक्षक उनके पारिषद् बलराम के आगमन वेग को देखकर चिल्लाते हुए डर कर भाग गये। वृष्णि और अन्धक वंशी राजाओं ने जोर से हिनहिनाने वाले घोड़ों से शत्रु के नगर को घेर लिया। वाणासुर के नगर की परिखा को गिराने के लिए हाथियों को उकसाया। यादव सेना के पाव ने संसार की अन्य शब्दों से रहित बना दिया। यदुवंशियों की सेना से ढहाये जा रहे अपने नगर से वाणासुर निकला। तापत्रय का नाश करने वाले कृष्ण से शमन चाहता हुआ वाणासुर दिशाओं को जलाता हुआ सा कृष्ण की ओर गया। भीषण घोष सहित प्रलयकाल सदृश अभूतपूर्व युद्ध हुआ। इसके बाद अभय प्रदान किए गए अपने भक्त बाणासुर की रक्षा करने के लिए असंख्य भूतगणों से अनुसृत शंकर जी कृष्ण पर क्रुद्ध होते हुए युद्ध करने आये। युद्ध में अप्रतिहतास्त्र प्रद्युम्न ने कार्तिकेय की शक्ति को बिल्कुल स्तब्ध कर दिया। कृष्ण द्वारा शिवप्रयुक्त ज्वर के निरस्त कर दिये जाने के कारण यह संसार ही ज्वर के भय से मुक्त हो गया। बाणासुर की रक्षा के लिए शंकर द्वारा प्रयुक्त पाँच अग्नियों को भी हठात् जीतकर कृष्ण ने

जृम्भणास्त्र से शंकर को जृम्भित कर दिया। बाणासुर ने अपार शक्ति वाले बलरामादि को रोक दिया। गरुड़ के पंखे की हवा के संचार के कारण वारूण नागपाश से छूटे हुए अनिरूद्ध रथ एवं धनुष से युक्त होकर बाणासुर की सेना के पीछे की ओर से युद्ध करने लगे। जहां जहां यादवों की सेना थी, वहां वहां से दैत्यों की सेना भाग गयी। दैत्य सेना को छोड़कर बाणासुर ने स्वयं कृष्ण की सेना में (कृष्ण से लड़ने के लिए) प्रवेश किया। उसके द्वारा चलाये गये अस्त्रों को शीघ्र ही निरस्त करके कृष्ण ने प्रलयकालीन सहस्रों सूर्य के समान देदीप्यमान चक्र को ग्रहण किया। इसके बाद शंकर जी के समक्ष ही भयंकर एवं बल से पूर्ण बाणासुर की भुजाटवी को कृष्ण ने काट दिया। बाण के गर्व के लिए चार भुजायें बिना काटे ही दयालु कृष्ण ने प्रदीप्त अस्त्र (चक्र) को वापस ले लिया। बाणासुर ने फिर बाण छोड़ा तो यह देखकर युद्ध में उद्धत उस दैत्य को कृष्ण ने मार डालना चाहा। तब कृष्ण को देखते हुए जयजयकार पूर्वक शिव बोले। हे प्रभो! मेरे सेवक स्वरूप बाणासुर को मारना आपके लिए उचित नहीं है। मेरे द्वारा रक्षित यह आपके द्वारा भी भक्त बुद्धि से देखा जाने योग्य है। अत: मेरे इस भक्त के आत्मगर्व को आप क्षमा करें। वाणी से मन की प्रीति को प्रकट करते हुए कृष्ण शिव से बोले- यह आपका भक्त है, इसी से मैं अपना मानता हूँ, अत: मेरे द्वारा भी सदा के लिये क्षमा किया जाता है। इसके बाद बाणासुर जगत् की रक्षा में तत्पर कृष्ण से प्रणिपात पूर्वक बोला कि प्रसन्न चित्त आपके द्वारा हम सब ऊषा और अनिरूद्ध के विवाह के कारण दास रूप में जानने योग्य हैं। इसके बाद उसने बांधने के कारण खिन्न उषा और अनिरूद्ध की समुचित

उपचारों से पूजा की। इसके बाद कृष्ण बन्धुओं और सैनिकों के साथ विशेष शोभायुक्त अपनी नगरी में आये। उषा के साथ प्रीतियुक्त अनिरूद्ध ने क्रीड़ायें कीं। द्वारका में विवाह और विजय का उत्सव मनाया गया। जनपदों और नगरों से आकर लोगों ने उपहार दिया।

एकविंश सर्ग : पौण्ड्रकादि वध

वासुदेव नाग धारण किए हुए महामदान्ध कलुषित बुद्धि पौण्ड्रक मनुष्यरूप में अवतरित विष्णु (कृष्ण) से स्पर्द्धा करता था। शंखचक्रादि भगवान के पांच आयुधों को तथा श्रीवत्स, कोस्तुभ आदिभगवच्चिन्हों को उस मूर्ख ने धारण कर लिया था। इन्द्रजाल आदि कपट विद्याओं में निपुणता के कारण मै ही विष्णु हूँ, इस प्रकार लोगों को मोह में डाल दिया था। एक दिन उसका दूत राजसभा में जाकर निर्भय होकर कृष्ण से सन्देश कहते हुए बोला- शास्त्रों में कोई अपरिमेय महिमा शाली पुराण पुरुष है, वह पौण्ड्रक रूप में अवतरित होकर पृथ्वी का उपभोग कर रहा है। यदि तुम ईश्वर हो तो तुम्हारे बड़े भाई बलराम ईश्वर नहीं है, यह कैसे कहा जा सकता है। तुम दोनों ईश्वर हो यह कथन भी दोषयुक्त है, क्योंकि यदि तुम दोनों एक होते तो परस्पर भेद न होता। कौन ऐसा है जिससे नियति के कारण अपराध न होता हो, किन्तु बुद्धिमान उससे अलग होकर वृद्धि प्राप्त करते हैं। यदि तुम जीना चाहते हो तो मेरी शरण में आओ। दूत के इस तरह कहने पर हँसते हुए कृष्ण ने उत्तर दिया- तुम्हारी बात को मैं अपना हित ही समझता हूँ, जो कह रहे हो यह तो मैं बहुत दिन से चाहता था, शीघ्र जाओ और उस ईश्वर से कह दो कि यादवों

की सेना तुम्हारे पास शीघ्र ही आ रही है। मैं शीघ्र ही शरण में आकर देखूंगा। मैं चक्र नहीं फेंकूंगा, ऐसी बात नहीं है। अर्थात् पौण्ड्रक पर इसे अवश्य छोड़ूंगा। दूत के चले जाने पर कृष्ण ने शत्रु के निवासस्थान के लिए प्रस्थान किया। पौण्ड्रक के मित्र काशिराज ने उसकी सहायता की। सत्वगुण रूप कृष्ण ने रजस्तमस् रूप उन दोनों को मार डाला। शत्रुओं का संहार करके कृष्ण द्वारका चले आये। कृष्ण से बदला लेने के लिए काशिराज के पुत्र ने शंकर की उपासना की। उसके क्रूर पुरोहित ने आहुति देकर प्रलयाग्नि के समान भयंकर कृत्या को उत्पन्न किया। वह कृष्ण के पास गयी, किन्तु सुदर्शन चक्र के प्रभाव से वापस आकर उसने व्रतस्थ पुरोहित को ही मार डाला तथा काशी नगरी को भस्म कर दिया। इस प्रकार आसुरी पद्धति वाले पौण्ड्रक आदि का वध कर देने पर उनसे मित्रता रखने वाला द्विविद् नामक दुर्बुद्धि वानर इस संसार को अपनी भुजाओं के पराक्रम से पीड़ित करने लगा। एक दिन वह बलराम के उपवन में आकर जोर से किलकारी मारने लगा। बलराम के साथ उसका बहुत देर तक मल्लयुद्ध हुआ फिर बलराम ने उस वानर को रोककर अपने मुसल से मार डाला। इसी तरह साल्व, हंस, डिमिक आदि को मार कर कृष्ण ने पृथ्वी का भार हल्का किया। यदुवंशियों के ऐश्वर्य को बढ़ाकर कृष्ण ने दिग्विजय करना चाहा। आपस में मन्त्रणा करने के लिए सबको कृष्ण ने सुधर्मा नामक सभाभवन में बुलाया। अत्यन्त मनोहर शोभा धारण किए हुए उस सभा ने कृष्ण के आधिराज्य की कामना की।

द्वाविंश सर्ग : दिग्विजय वर्णन

सभा में आकर यादवों के बैठ जाने पर कृष्ण ने विस्तार से उन्हें राजनीति समझाया। उसे सुनकर राजागण बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने कृष्ण के वचनों को वेद के समान समझा। इसके बाद स्वामी की आज्ञा से युद्धप्रिय सात्यकि ने यादव समूह के साथ प्रस्थान किया। वे पूर्व दिशा की ओर सेना ले गये। जो लोग शरण में आकर प्रणाम करते थे, उन्होंने उनके नाश के लिए विचार नहीं किया। भागते हुए कुछ शत्रुओं को देखकर वह स्वयं लज्जित हुए कि ऐसे कायर लोगों पर मैंने व्यर्थ में आक्रमण किया। उनके शत्रुओं ने शीघ्र ही झुकते हुए धनुष से स्वर्ग और शरीर से पृथ्वी को प्राप्त किया। योगी जैसे मन को सर्वप्रथम वश में करता है, उसी प्रकार उन्होंने मध्यदेश को सबसे पहले जीता। वानरों द्वारा चूसे गये ताल के समान कटे हुए यवनों के शिरों से पृथ्वी यमभटों के लिए दिये गये पिण्ड की तरह दीख पड़ी। उसकी क्रोध बड़वाग्नि के द्वारा यवन सैन्य सागर के पी लिए जाने पर शकादिक भय के कारण स्वयं सात्यकि की शरण में आ गये। म्लेच्छों का दमन करने के बाद पश्चिम समुद्र के तट से वायव्य दिशा की ओर गये। उन्होंने हूणों को जीतकर तदनन्तर सिन्धु और कम्भोज की विजय करते हुए कश्मीर भूमि का उपभोग किया। वे महासेना के साथ हिमालय पार कर गये। अपने यश से नेपाल को आवासित करके सात्यिक ने उसे अपने देश जैसा बना लिया। उसके बाद पूर्वोत्तर दिशा की ओर दृष्टि डाली। जिस प्रकार सिंह गजों को मार डालता है उसी प्रकार पूर्व दिशा के राजाओं को सात्यकि ने स्थानच्युत कर दिया। इन्द्र के समान पूर्व दिशा को जीतकर सज्जनों की रक्षा में

तत्पर सात्यकि ने दक्षिण दिशा में प्रस्थान किया। कलिंग देश के राजाओं द्वारा भेजे गये, मार्ग को रोकते हुए गजों को यदुसिंह ने सिंहनाद से रोक दिया। फिर वह गंगा के समान स्थित गोदावरी पर पहुंचे। आत्मसमर्पण करने वालों को उन्होंने अभयदान दे दिया। उसके बाद द्रविड देशों में श्रेष्ठ तुण्डीर मण्डल में प्रविष्ट हुए। धर्म धुरन्धर सात्यकि ने सन्मार्ग का परित्याग कर देने वाले और काँचीपुर में स्थित राजधानी को छोड़ देने वाले धर्म से दूर किन्तु धार्मिक राजाओं को बुलाकर वहाँ प्रतिष्ठित किया। दर्शनीय चोलदेश को देखने की इच्छा का संवरण वह नहीं कर सके। उन्होंने कावेरी को देखा। चोल और पाण्ड्य देश में उपद्रव करने वालों को उन्होंने समाप्त कर दिया। मैनाक के तेज से प्रकाशित, सेतु द्वारा विभक्त कर दिये गये, रघुवीर द्वारा दमन किये गये दक्षिण समुद्र को सात्यकि ने देखा। नल निर्मित सेतु के पास आकर ताम्रपर्णी के मुहाने को देखकर सात्यकि ने सेना को विश्राम कराया। उनके प्रताप के अधीन होकर सिंहल द्वीप निवासियों ने प्रभूत रत्नोपहार देकर सात्यकि को प्रसन्न किया। धनादि का संग्रह करके पुनः सेतु निर्माण का सात्यकि ने निश्चय नहीं किया। पाण्ड्य देश के राजाओं से उपहार लेकर उन्होंने महेन्द्र पर्वत की प्रदक्षिणा की। उनके द्वारा मलय पर्वत की वनस्थली का उपभोग किया गया। केरल देश के राजाओं ने जयशील अस्त्र के समान हाथ जोड़ लिया। गोकर्ण और महेन्द्र पर्वत को पार करके सेना का पड़ाव डाला। मत्त गजों के समान उद्धत तुलुव देश के राजाओं को भयभीत किया। कोंकण देश के राजाओं का उन्होंने बाणों से स्वागत किया। महाराष्ट्र का मर्दन किया। सह्य और विन्ध्य को काम तथा क्रोध के समान पार करके उनके

मध्यवर्ती विषम जनपदों को जीत लिया। वह शत्रुजित चक्र के समान सम्पूर्ण भूमण्डल में परिक्रमा करके सभी शत्रुओं का नाश करके पुनः कृष्ण के पास गये। नवागत राजाओं को कृष्ण ने विदा किया। चरण के निकट रखी हुई वासुदेव की पादुका की वन्दना करके राजागण उपलब्ध पारिजात के पुष्पों से प्रसन्न करने योग्य अपनी पत्नियों को सुगन्ध युक्त बनाने के लिए गये।

त्रयोविंश सर्ग : महाभारत युद्ध वर्णन

दिग्विजय के अनन्तर देवेन्द्र के अधिकार से च्युत जो पांच इन्द्र पृथ्वी पर पांचपाण्डव हुए थे, विजयेच्छु वे द्रोपदी के साथ कृष्ण के पास गये। उन धैर्यशालियों ने कृष्ण की कृपा से परिणामरमणीय विपत्तियों को सहन किया। दुर्योधन के द्वारा किये गये जल पीड़ा, अग्नि कष्ट, द्यूत पराजय, राज्यभ्रंशादिक क्लेश पाण्डवों को सहन करने पड़े। कौरवों और पाण्डवों में सन्धि कराने के लिए कृष्ण ने प्रयत्न किया दुर्योधनादि के सन्धि न स्वीकार करने पर कृष्ण अर्जुन के सारथी बने। युद्ध क्षेत्र में अर्जुन के खेद को दूर करने के बहाने भगवान् श्रीकृष्ण ने 'गीता' का उपदेश दिया। उन्हें सान्त्वना देने के लिए विराट रूप का दर्शन कराया। भगवान् श्रीकृष्ण को अपनी प्रतिज्ञा पालन करने की अपेक्षा भक्त की प्रतिज्ञा का पालन करना अधिक महत्त्वपूर्ण लगा। उन्होंने भगदत्त द्वारा प्रयुक्त वैष्णवास्त्र से अर्जुन की रक्षा की। श्रीकृष्ण के चरणों में समर्पित की गयी पूजा को शिव जी के समीप देखकर अर्जुन ने श्रीकृष्ण की महिमा पर विचार किया। जयद्रथ का वध करने के लिये अर्जुन द्वारा

प्रतिज्ञा करने पर श्रीकृष्ण ने उसे सफल बनाया। अर्जुन को निमित्त बनाकर भगवान् ने पृथ्वी का भार उतारा। अश्वत्थामा के अस्त्र से गर्भ में झुलसते हुये परीक्षित की कृष्ण ने रक्षा की। पाण्डवों को माध्यम बनाकर उन्होंने द्रोपदी के कष्टों को दूर किया। स्वेच्छा से अपने मरण की प्रतिज्ञा करने वाले भीष्म के लिए अर्जुन ने बाणों से शैय्या का निर्माण किया। महाभारत का युद्ध समाप्त करके अर्जुन से आलिंगन करते हुए कृष्ण ने अपने अवतार का आशय सूचित किया। कलि के प्रशम के लिए श्रीकृष्ण ने भीष्म द्वारा धर्म का उपदेश कराया। राज्य प्राप्त पाण्डवों के द्वारा पूजित होकर श्रीकृष्ण ने द्वारका में आकर पत्नियों के साथ विहार किया।

चतुर्विंश सर्ग : कृष्ण विहार वर्णन

अपनी पत्नियों के साथ भगवान् श्री कृष्ण का विहार एवं विषय भोग सर्वथा उचित था। परमानन्द श्री कृष्ण के दिव्य चरित्रों की प्रशंसा राजर्षि गण भी करते थे। एक साथ अनेक शरीर धारण करके भगवान ने धर्मानुष्ठान, व्यवहार दर्शन एवं विहरणादि सम्पादित किया। इन्द्र, ब्रह्म लोकादि में भी न देखे हुए वैभव को श्री कृष्ण के अन्तःपुर में देखकर नारद बहुत आनन्दित हुए। पत्नियों के साथ श्री कृष्ण ने उपवन-विहार किया। देवों के द्वारा प्रेषित अप्सराओं को कृष्ण ने अपनी पत्नियों की सेवा में नियुक्त किया। चित्र मन्दिरों में उन्होंने बल्लभाओं को समाधिदशा सदृश आनन्द प्रदान किया। विहार के द्वारा ही उन्होंने अपनी पत्नियों में भवभयनिवारिणी भक्ति को उत्पन्न किया। श्री कृष्ण ने रत्नडोला पर विहार किया पत्नियों के साथ जल क्रीड़ा की तथा पुष्प मण्डपों का उपभोग

किया। उन्होंने बल्लभाओं के साथ कन्दुक क्रीड़ा की। वर्णाश्रमोचित धर्मानुष्ठानों के समय में भी उन्होंने अपनी सेवा में तत्पर पत्नियों को निरतिशयानन्द प्रदान किया। भगवान् ने उनके साथ सपरिहास विहार किया। भगवान् ने अपनी बल्लभाओं को अलंकृत किया। श्रीकृष्ण उनके साथ देवों द्वारा लायी गयी सुरा का पान किया करते थे। सैकड़ों प्रिय वचनों से उन्होंने मानिनी रानियों को प्रमुदित किया। श्रीकृष्ण द्वारा उपमुक्त वस्त्राभूषणादि का उपभोग करके उनकी बल्लभायें अतिशय आनन्द पाती थीं। श्रीकृष्ण ने पत्नियों के साथ ताम्बूल सेवन किया। पत्नियों के वश में होने की लीला करते हुए कृष्ण ने उनके साथ रातें बितायीं। धूतकाल में निर्णायक पद पर स्थित कृष्ण उभयपक्ष की विजय बताकर कलह सम्पादनपूर्वक परिहास सहित क्रीड़ायें करते थे। प्रणय कुपित महिषियों को प्रहेलिकादि द्वारा मुग्ध कर देते थे। कोटिकामोत्तर सौन्दर्याधिक्य सम्पन्न कृष्ण को देखकर योगीजन भी उनके अनुभव के लिए स्त्री रूप की कामना करते थे। भगवदनुभवानन्द प्राप्त करने वाली और ध्यान करने वाली स्त्रियों ने यथोचित स्वर्ग और मोक्ष प्राप्त किया। नारी परवश सम्भोग प्रवणतावच्छिन्न कृष्ण के सर्वलोकेश्वरत्व, नित्य ब्रह्मचारित्व, सर्वगतत्वादि का अनुसन्धान करने वाले भगवान् की माया को पार कर जाते हैं। इस प्रकार कृष्ण की बल्लभाओं के सौभाग्य का वर्णन करते हुए श्री वेदान्तदेशिक अन्त में कवि और काव्य की प्रशंसा करते हैं।

खण्ड (2)

महाकाव्यत्व :

यादवाभ्युदय महाकाव्य का इतिवृत्त जान लेने के अनन्तर यह आवश्यक हो जाता है कि महाकाव्य के स्वरूप पर विचार करते हुए प्रस्तुत ग्रन्थ के महाकाव्यत्व की विवेचना की जाय। वैसे तो अनेक आलंकारिकों ने महाकाव्य का लक्षण किया है, किन्तु साहित्य दर्पणकार का लक्षण जितना विशद् एवं पूर्ण है उतना अन्य किसी का नहीं है। अतः इन्हीं के लक्षण को कसौटी बनाकर इस महाकाव्य का परीक्षण किया जायेगा। आचार्य विश्वनाथ का लक्षण इस प्रकार है-

सर्गबन्धो महाकाव्यं तत्रैको नायकः सुरः।
सद्वंशः क्षत्रियो वापि धीरोदात्त गुणान्वितः।।
एक वंश भवा भूपाः कुलजा बहवोऽपिवा।।
श्रृंगारवीर शान्तानामेकोऽङ्ग रस इष्यते।
अङ्गानि सर्वेऽपि रसाः सर्वे नाटकसन्धयः।।
इतिहासोद्भवं वृत्तमन्यद् वा सज्जनाश्रयम्।
चत्वारस्तस्य वर्गाः स्युस्तेष्वेकं च फलं भवेत्।।
आदौनमस्क्रियाऽऽशीर्वा वस्तुनिर्देश एव वा।
क्वाचिन्निन्दा खलादीनां सतां च गुणकीर्तनम्।।
एकवृत्तमयैः पद्यैरवसानेऽन्यवृत्तकैः।

नातिस्वल्पा नातिदीर्घा सर्गा अष्टाधिका इह।

नानावृत्तमयः क्वापि सर्गः कश्चन दृश्यते।

सर्गान्ते भाविसर्गस्य कथायाः सूचनं भवेत्।।

सन्ध्यासूर्येन्दुरजनी प्रदोष ध्वान्तवासराः।

प्रातर्मध्याह्नमृगयाशैलर्तुवसागराः।।

सम्भोगविप्रलम्भो च मुनिस्वर्गपुराध्वराः।

रण प्रयाणोपयममन्त्रपुत्रोदयादयः।।

वर्णनीया यथायोग्यं सांगोपांगाअसीइह।

कवैर्वृत्तस्य वानाम्ना नायकस्येतरस्यवा।।

नामास्य सर्गोपादेयकथया सर्गनाम तु। (सा0 द0 षष्ठ परिच्छेद)

नायक :

सर्गबन्धात्मक काव्य प्रकार को महाकाव्य बताकर इस लक्षण में सर्वप्रथम नायक पर विचार किया गया है। महाकाव्य में एक ही नायक का चरित्र चित्रित किया जाता है। यह नायक कोई देवविशेष हो सकता है या प्रख्यात क्षत्रियवंश का राजा हो सकता है, जिसमें धीरोदतादि नायक के गुण विद्यमान हों, अथवा किसी महाकाव्य में एक राजवंश में उत्पन्न अनेक कुलीन राजाओं का चरित्र भी चित्रित किया जा सकता है। इस आधार पर आलोच्य महाकाव्य में प्रख्यातयदुवंश क्षत्रिय कुल में उत्पन्न धीरोदातादिगुणों से सम्पन्न श्रीकृष्ण नायक हैं। इन्हें दिव्यादिव्य नायक भी कहा जा सकता है, क्योंकि विष्णु (दिव्य) भगवान् ही स्वयं कृष्ण (मानव-अदिव्य) रूप में

अवतरित हुए हैं। उन्हीं के असाधारण चरितों का वर्णन इसमें किया गया है।

दिव्यादिव्य नायक के अनुरूप रूक्मिणी ही इस महाकाव्य की नायिका हैं। लक्ष्मी ही रूक्मिणी रूप में अवतरित हैं। कवि ने रूक्मिणी वर्णन और रूक्मिणी परिणय नामक द्वादश तथा त्रयोदश सर्गों में सविस्तार वर्णन द्वारा उनके नायिकात्व को प्रतिपादित किया है। इस महाकाव्य में भी अपने आधार ग्रन्थ श्रीमद्भागवत की तरह कहीं भी राधिका का नाम तक नहीं आया है, साथ ही किसी गोपी विशेष का चित्रण भी नहीं हुआ है, जिससे राधा की कल्पना भी की जा सके।

रस :

रसामिव्यंजन की दृष्टि से श्रृंगार, वीर और शान्त रसों में से कोई एक रस किसी महाकाव्य में अंगी या प्रधान रूप में परिपुष्ट किया जाता है। अन्य रसों का वर्णन अंग या अप्रधान रूप से ही किया जाना चाहिए। प्रस्तुत महाकाव्य में अंगी या प्रधान रस शान्तरस ही है। यहाँ तक कि श्रृंगार एवं वीर रसों के वर्णन-काल में भी कवि ने शान्तरस का अंगित्व अक्षुण रखा है। अन्य रसों की तो कोई बात ही नहीं है। अधोलिखित उदाहरणों से इस बात को अधिक स्पष्ट किया जा सकता है। शरत्काल में प्रभूत पुष्प-फलों से युक्त वनों को देखकर चिन्ता परवश व्रज-सुन्दरियों का कृष्ण ने स्मरण किया। उन्हें बुलाने के लिए कृष्ण ने वंशी बजायी। वंशी की नाद को सुनकर कीड़ारूप प्रयोजन को जानने वाली सुन्दरियाँ अपने घरों से चली आयीं। भगवत्सौन्दर्यादि गुणों से आकृष्ट गोपांगनाओं ने

कामोपदिष्ट महामार्ग से प्रिय कृष्ण को प्राप्त करना चाहा। भगवान् ने उनके मनोरथों को पूरा करने के लिए महारास लीला प्रारम्भ की। जिसमें क्षण-क्षण पर कण-कण से श्रृंगार की धारा प्रवाहित हो रही थी। रसराज के इस असाधारण स्तर पर परिपुष्ट हो जाने पर भी आचार्य इसे शान्त रस का अंग बनाने के लिए भक्ति की धारा प्रवाहित करते हुए अपने विचार प्रकट करते हैं।

सुरांगनाभिः समये धृतायां स्वेनैव गोपाकृतिभूमिकायाम्।

अकर्मवश्यस्य विभोस्तदासी दर्चाफलस्पर्शनमात्रलीला।।(या0 8/67)

फिर वे कहते हैं कि इसमें दोष की गन्ध भी नहीं हैं, यह दिव्य लीला तो शुद्ध अन्तःकरण वाले योगियों के लिए चिन्तन करने योग्य है।

न खल्वमुष्य प्रमदामदानध्यं न कुत्सनं तत्तदभीष्टदातुः।

न धर्मसंस्थापनबाधगन्धाः शुद्धानुचिन्त्या हि शुभस्यलीला।।

इसी प्रकार अपनी प्रियतमाओं के साथ विहार में कृष्ण के तल्लीन हो जाने पर आचार्य कहते हैं कि कृष्ण के उस चरित के ध्यान से दुस्तर माया को तुरन्त पार किया जा सकता है।

नारीदृष्टया नियमितधियो नाकनाथेश्वरत्वं

सम्भोगे च प्रवणमनसश्शाश्वतं ब्रह्मचर्यम्।

अत्रैकस्यां पुरि निवसतस्सर्वलोकाधिकत्वं

निध्यायन्तस्त्वरितमतरन् दुस्तरां तस्य मायाम्।।(यादवाभ्युदय अष्टम सर्ग)

और भी-

रागादि रोगप्रतिकारभूतं रसायनं सर्वदशानुभाव्यम्।

आसीदनुध्येतमं मुनीनांदिव्यस्य पुंसो दयितोपभोगः।।

इसी भांति वीर रस के वर्णनों का पर्यवसान भी शान्तरस में किया गया है। महाभारत के भीषण संग्राम में विजय प्राप्त करके अर्जुन ने कृष्ण के चरणों का ध्यान किया।

निस्तीर्यसंग्राममहासमुद्रं संसारपोतेन परेणसंख्या।

धनंजयस्तत्पदमेव भेजे निर्धूतनीहार दिवाकरामः।।

इसी प्रकार सर्वत्र अंगीरस के रूप में शान्तरस ही फैला है।

इसी प्रसंग में यह भी ज्ञातव्य है कि श्री वेदान्तदेशिक ने यादवाभ्युदय महाकाव्य के चरम श्लोक में काव्य कृतित्व के प्रयोजन के रूप में भगवान श्रीकृष्ण की प्रभूत दयाप्राप्ति को रखा है। उन्होंने काव्यंयशसेऽर्थकृते (काव्य प्रकाश) इत्यादि तुच्छ फलों की अभिलाषा न करते हुए भगद्भक्ति को ही काव्य माना है। यादवाभ्युदय के श्लोक वपुषाभक्तिनम्रैण धीरोन्नतमहीयसा। शान्तवीराद्भुतरसान् समाहृत्येव सम्पतन् द्वारा भी आचार्य ने भक्ति से शान्तरस का उत्थापन माना है। श्री अप्पय दीक्षित ने उपर्युक्त श्लोक की व्याख्या करते हुए भक्तिनम्रतया शान्तरसं.... समाहृत्यं लिखा है। कहने का तात्पर्य यह है कि वेदान्तदेशिक ने भगवदभक्ति को ही इस काव्य का प्रयोजन स्वीकार किया है। उनके मत में भक्ति ही शान्तरस का बीज है, अतः शान्तरस ही इस महाकाव्य में अंगीरस है।

सन्धि :

संघटना की दृष्टि से नाटक की सभी सन्धियाँ महाकाव्य में होनी चाहिए। नाटकों में मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और उपसंहृति नामक पांच सन्धियां होती हैं। विमर्श को अवमर्श तथा उपसंहृति को उपसंहार या निर्वहण भी कहते हैं। जब किसी एक प्रयोजन से सम्बद्ध कथांशों को अन्य प्रयोजन से सम्बद्ध किया जाय तो उसे सन्धि कहते हैं। इन सन्धियों की सम्यक् स्थापना यादवाभ्युदय महाकाव्य में हुई है।

सन्धि के प्रथम भेद मुख सन्धि में नाना प्रकार के रसों को उत्पन्न करने वाली बीजोत्पत्ति पायी जाती है। बीज से तात्पर्य है काव्य के प्रारम्भ में अल्परूप में संकेतित वह तत्त्व जो काव्य के फल का कारण है तथा अनेक रूप में पल्लवित होता है। प्रस्तुत महाकाव्य में देवों और पृथ्वी को आश्वासन देना कि दैत्य सेना से डरो नहीं, मेरी आज्ञा मानने वाले की पराजय नहीं होती। मैं अवतार लेकर पृथ्वी का भार हरण करने के लिए राक्षस राजाओं का वध करूंगा और धर्म की स्थापना करूंगा? आदि रूप में बीज की उत्पत्ति ही मुख सन्धि है।

प्रतिमुख सन्धि में बीज अस्पष्टरूप से अंकुरित होने लगता है, उसका उद्भेद कुछ दिखायी पड़ता है और कुछ नहीं दिखायी पड़ता है। कृष्ण की बाल्यावस्था की लीलाएं- पूतना, सुणावर्तादि के वध एवं यमलार्जुन मोक्ष द्वारा प्रतिमुख सन्धि चित्रित की गयी है। उनके वध से दैत्यों के संहार एवं धर्मस्थापन रूप बीज का उद्भेद तो होता है किन्तु उसका स्वरूप बहुत अस्पष्ट है। अतः यहां प्रतिमुख सन्धि है।

जब बीज के दिखायी पड़ जाने के बाद फिर से नष्ट हो जाने पर उसका अन्वेषण बार-बार किया जाता है तो वहां सन्धि का तृतीय भेद गर्भ सन्धि होती है। अनेक दैत्यों का संहार करने के बाद कंस का वध कर देने पर पृथ्वी भार हरण एवं धर्मस्थापन रूप बीज स्पष्टरूप से प्रकट हो जाता है, किन्तु जरासन्ध के अट्ठारह बार आक्रमण करने और बचकर चले जाने, कालयवन से पराजित हो जाने पर मथुरा छोड़कर दूसरी पुरी बनाने का विचार करने से उक्त प्रकट बीजनष्ट सा दिखायी पड़ने लगता है। फिर दुर्ग निर्माण योग्य द्वीप प्राप्त करके दुराक्रम दुर्ग निर्माण करने की इच्छा आदि से पुनः बीज का अनुसन्धान किया गया है। अतः यहां गर्भ सन्धि है।

जहां क्रोध से, व्यसन से या प्रलोभन (लोभ) से फलप्राप्ति के विषय में विचार या पर्यालोचन किया जाय और जहां गर्भ सन्धि के द्वारा बीज को प्रकट कर दिया गया हो, वहां अवमर्श (विमर्श) सन्धि होती है। तारकासुर, शिशुपाल, बाणासुर, पौण्ड्रक आदि दुष्ट राजाओं का वध कर देने पर भू-भार हरण एवं धर्मस्थापना रूप बीज स्फुटरूप से प्रकट हो जाता है। इसके बाद कृष्ण ने उग्रसेन को राज्य पर अधिष्ठित करके यदुवंश के ऐश्वर्य को बताते हुए दिग्विजय करने के लिए यदुवंशियों से परामर्श किया कि यद्यपि प्रसिद्ध शत्रु नाम मात्र शेष रह गये हैं, तथापि तामस क्षुद्र राजाओं से भूमि चारों ओर आच्छादित हैं। अतः उन्हें जीतने के लिए सात्यकि को भेजा जाय आदि के द्वारा अवमर्श (विमर्श) सन्धि की स्थापना की गयी है।

पंचम सन्धि का नाम निर्वहण है। कथावस्तु के बीज से युक्त मुख आदि अर्थ जो अब तक इधर-उधर बिखरे पड़े रहते हैं, जब एक अर्थ के लिए एक साथ एकत्र किये जाते हैं तो वहां निर्वहण (उपसंहार) सन्धि होती है। प्रस्तुत महाकाव्य में तत्तत्दुष्ट राजाओं के वध से भू-भार हरणरूप कार्य जो इधर-उधर बिखरा पड़ा था, महाभारत के युद्ध में महाभीषण अठारह अक्षौहिणी सेना का संहार कराकर कृष्ण ने जीवाधिक्य रूप रोग से पृथ्वी को मुक्त किया और धनञ्जय के द्वारा अनन्यशरणागता द्रोपदी के परिभवशल्य को दूर किया। इस प्रकार एक साथ ही दुष्ट राजाओं के वध से पृथ्वी का भारापनोदन, धर्मसंस्थापन और भक्त परित्राणादि प्रयोजन एकत्र दिखाायी पड़ते हैं। अतः यहां निर्वहण सन्धि है।

इतिवृत्त :

महाकाव्य के कथानक के विषय में दर्पणकार का मत है कि उसे ऐतिहासिक होना चाहिए अथवा किसी सज्जन पुरूष को आधार बनाकर काल्पनिक भी हो सकता है। विचार्य महाकाव्य का कथानक पूर्णतः ऐतिहासिक है। श्रीमद्भागवत महाभारतादि ग्रन्थों में इस इतिवृत्त का वर्णन आ चुका है। अतः यह लक्षण भी इस महाकाव्य में सम्यक् रूप से चरितार्थ होता है। वेदान्तदेशिक ने श्रीमद्भागवत को आधार मानकर इस काव्य की रचना की है। इसी प्रसंग में प्रस्तुत महाकाव्य के कथानक के औचित्य पर विचार कर लेना भी सभीचीन होगा।

कवि को यह अधिकार है कि वह अपनी रचना में ऐतिहासिक इतिवृत्त को रसानुकूल परिवर्तित कर ले। यादवाभ्युदय महाकाव्य में भी

श्रीमद्भागवत में वर्णित कथानक कहीं-कहीं परिवर्तित हुआ है। उसके औचित्य पर संक्षेप में यहां विचार किया जायेगा।

कृष्ण की कथा का श्री गणेश श्रीमद्भागवत में दशम स्कन्ध के प्रथम अध्याय से होता है। वसुदेव और देवकी के विवाह में कंस, देवकी के पुत्र से अपनी मृत्यु जानकर उनके छः शिशुओं का वध करता जाता है। अन्त में ब्रह्मा द्वारा प्रार्थना करने पर कृष्ण रूप में विष्णु अवतरित होते हैं। इस महाकाव्य में मंगलाचरण के बाद नारायण से इस वंश की उत्पत्ति का क्रम सूचित किया गया है। ब्रह्मा द्वारा प्रार्थना किये जाने पर विष्णु देवकी के गर्भ में आ जाते हैं। कवि ने द्वितीय सर्ग देवकी के असाधारण दोहद, सन्ध्या और रात्रि का सुन्दर वर्णन करते हुए ऐतिहासिक इतिवृत्त में काव्यता की मनोहर झांकी प्रस्तुत की है।

कृष्ण की बाललीला, गोवर्धन धारण, रासलीला आदि का वर्णन अधिकांशतः श्रीमद्भागवत के अनुरूप ही हुआ है। अन्तर केवल इतना हुआ है कि इस कथानक में काव्यता का पुट दे दिया गया है।

श्रीमद्भागवत में रूक्मिणी कृष्ण के पास दूत भेजकर उन्हें विवाह करने के लिए बुलाती है। इसी प्रकार उषा अपनी सखी चित्रलेखा की सहायता से अनिरूद्ध का हरण करा लेती है और अंतःपुर में उनके साथ निवास करने लगती है। यदवाभ्युदय में रूक्मिणीहरण तथा कृष्ण बाणासुर युद्ध तो वर्णित हुआ है, किन्तु उक्त अंश की कवि ने चर्चा ही नहीं की है। ऐसा लगता है कि उक्त व्यवहार कवि को भारतीय नारी की मर्यादा के प्रतिकूल प्रतीत हुआ है, क्योंकि इससे उनका स्वेच्छाचार सूचित होता

है। अतः इसे उन्होंने अपने काव्य में स्थान नहीं दिया। सर्वजनहिताय काव्य मार्ग का आश्रवण करने वाले कवि केशरी वेदान्तदेशिक के लिए ऐसे तथ्यों की उपेक्षा कर देना उचित ही है।

श्रीमद्भागवत में नरकासुर के वध के बाद कृष्ण इन्द्र से पारिजात हरण करके सीधे द्वारका चले जाते हैं। यादवाभ्युदय में पारिजात हरणानन्तर गरुडारूढ़ कृष्ण सत्यभामा को सभी स्थलों का विस्तृत परिचय देते हुए आते हैं। सम्पूर्ण अष्टादश सर्ग में भारत के अनेक पर्वतों तथा भूखण्डों का वर्णन हुआ है। इससे जहां वेदान्तदेशिक के सूक्ष्म भौगोलिक ज्ञान का परिचय मिलता है वहीं प्रस्तुत महाकाव्य की काव्यता में चारूता का सन्निवेश भी हुआ है।

सम्पूर्ण उन्नीसवें सर्ग में प्रभात का मनोहर वर्णन करके कवि ने ऐतिहासिक कथानक में परिवर्तन लाकर काव्य को अधिक उत्कृष्ट बना दिया है।

ऐतिहासिक इतिवृत्त के परिवर्तन में, कवि के अधिकार का प्रयोग प्रमुख रूप से वेदान्तदेशिक ने बाईसवें सर्ग में किया है। इस सर्ग में कवि ने दिग्विजय का वर्णन किया है। श्रीमद्भागवत में इस प्रकार का कोई वर्णन नहीं हुआ है किन्तु यादवाभ्युदय के बाईसवें सर्ग में सर्वप्रथम कृष्ण राजनीति के गूढ़ रहस्यों का उल्लेख करते हैं। इसके बाद सात्यकि के नेतृत्व में यादवों की महासेना दिग्विजय के लिए प्रस्थान करती है। लगभग दो सौ श्लोकों में सम्पूर्ण भारत का विजय वर्णन किया गया है। यह कवि की नयी सूझ है जो कि महाकाव्य को सर्वगुण सम्पूर्ण बनाने के

लिए प्रयुक्त हुई है, क्योंकि महाकाव्य में रणप्रयाण, नगर, युद्ध आदि का वर्णन आवश्यक माना जाता है। इनकी पूर्ति इससे हो जाती है।

यादवाभ्युदय के चौबीसवें सर्ग में कवि ने अपनी धर्म पत्नियों के साथ कृष्ण के विहार का वर्णन किया है। श्रीमद्भागवत में इस प्रकार का कोई वर्णन नहीं हुआ है। दशम स्कन्ध के साठवें सर्ग में रूक्मिणी के साथ परिहास मात्र चित्रित हुआ है। यह वर्णन भी महाकाव्य में रसाधायक, तृतीय पुरूषार्थ को प्रकट करने के लिए आवश्यक तथा परम पुरुषार्थ मोक्ष और रसश्रेष्ठ शान्त को अंगीरूप में प्रस्तुत करने के लिए उपयुक्त होने के कारण सर्वथा उचित ही है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ऐतिहासिक इतिवृत्त में कवि ने रसानुगुण्य लाने के लिए स्थान-स्थान पर परिवर्तन किया है जो कि सर्वथा समीचीन एवं उचित है।

फल :

पुरुषार्थों की दृष्टि से महाकाव्य में चारों वर्गों धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का निरूपण होना चाहिए। उनमें से कोई एक महाकाव्य का फल (प्रयोजन) हो सकता है। यादवाम्भुदय में चारों वर्गों का वर्णन हुआ है। धर्म की स्थापना के लिए तो श्रीकृष्ण ने अवतार ही लिया है। जहां तक अर्थ का सम्बन्ध है, इसका भी वर्णन हुआ है। कृष्ण द्वारा राजनीति का उपदेश और दिग्विजय द्वारा यदुवंश की समृद्धि बढ़ाने की अभिलाषा, स्यमन्तक मणि की कामना आदि अर्थ पुरुषार्थ को ही पुष्ट करते हैं। इस महाकाव्य में तृतीय पुरुषार्थ की भी उपेक्षा नहीं की गयी है। व्रजांगनाओं के साथ

की गयी कृष्ण की बाल लीलाओं को यदि छोड़ भी दिया जाय तो सोलह हजार आठ पत्नियों के साथ चौबीसवें सर्ग में वर्णित हुआ कृष्ण का विहार काम पुरूषार्थ को प्रदर्शित करता है। वस्तुतः ऐसा लगता है कि उसी तृतीय पुरूषार्थ के वर्णन के लिए आचार्यचरण ने इस सर्ग को जोड़ दिया है, नहीं तो कृष्णावतार के प्रयोजनीभूत सभी कार्य तेईसवें सर्ग तक निष्पन्न हो चुके हैं। परमकाम्य चतुर्थ पुरूषार्थ मोक्ष के विषय में क्या कहा जाय। वही तो प्रस्तुत महाकाव्य का फल ही है जो भक्ति या प्रपत्ति द्वारा लभ्य है। अन्य तीनों पुरूषार्थों का जो वर्णन हुआ है, वह भी इसी में पर्यवसित होता है। कृष्ण ने मन्दपुण्यों के लिए अलभ्य स्वर्ग और मोक्ष स्वचरणाश्रित पत्नियों को विहारों के द्वारा ही प्रदान किया। इसी प्रकार के अन्य उदाहरण काव्य के मोक्षकफलत्व को प्रकट करते हैं।

मंगलाचरण :

महाकाव्य आरम्भ करने के विषय में दर्पणकार का कथन है कि आदि में नमस्कारात्मक, आर्शीवादात्मक या वस्तुनिर्देशात्मक मंगलाचरण होना चाहिए। विवेच्य महाकाव्य में, वन्दे वृन्दावन चरं वल्लवीजन बल्लभम्। जयन्ती सम्भवं धाम वैजयन्ती विभूषणम्।। इत्यादि के द्वारा विशिष्टैष्टदेवता नमस्कार रूप मंगल आचार्य ने प्रथम श्लोक में किया है।

निन्दा प्रशंसा :

महाकाव्य में कहीं-कहीं पर दुष्टों की निन्दा और कहीं-कहीं सज्जनों की प्रशंसा की जानी चाहिए। चूंकि अमिद्या की अपेक्षा व्यञ्जना से प्रकट किए गए भाव सहृदयश्लाध्य एवं अत्यधिक प्रभावशाली होते हैं, इसलिए

प्रस्तुत महाकाव्य में खलादि निन्दा और सज्जनादि प्रशंसा वाच्यमुखेन नहीं की गयी है। कवितार्किक केसरी ने कंस, जरासंध, शिशुपाल, पौण्ड्रक, दुर्योधनादि दुष्ट मूर्धन्यों की निन्दा एवं वसुदेव, नन्द, अक्रूर, भीष्म, युधिष्ठिरादि सज्जनश्रेष्ठों के गुणकीर्तन द्वारा ही सामान्य बलों की निन्दा और सज्जनों की प्रशंसा अभिव्यक्त की है।

रचना :

सर्गो की रचना के विषय में आचार्य विश्वनाथ का मत है कि सर्ग में एक वृत्त होना चाहिए, किन्तु सर्ग के पर्यवसान काल में अन्यवृत्तों का प्रयोग होना चाहिए अथवा कोई सर्ग अनेकवृत्तों वाला भी प्रयुक्त हो सकता है। इस महाकाव्य में इस वैशिष्ट्य का भी पालन हुआ है। 24 सर्गो वाले इस महाकाव्य में तेईस सर्गो में एक वृत्त ही प्रयुक्त हुआ है और पर्यवसान में वृत्त परिवर्तन कर दिया गया है, किन्तु षष्ठ सर्ग की सृष्टि अनेक वृत्तों से की गयी है जिसमें 22 छन्दों का प्रयोग किया गया है तथा अनष्टुप के अनेक भेद प्रयुक्त हुए हैं। प्रथम सर्ग में अनुष्टुपछन्द तथा पर्यवसान में बसन्ततिलका और प्रहर्षिणी प्रयुक्त हुए हैं। द्वितीय सर्ग में इन्द्रवज्रा और उपेन्द्रवज्रा की उपजाति तथा अन्त में मालिनी छन्द आया है। तृतीय सर्ग में दुतविलम्बित और बसन्त तिलका तथा रथोद्धता का प्रयोग किया गया है। चतुर्थ सर्ग में उपजाति का प्रयोग करके मैत्तम, मालिनी, पुष्पिताग्रा और औपच्छन्दसिक से समाप्त किया गया है। पंचम सर्ग में भी उपजाति का प्रयोग हुआ है, अन्त मन्दाक्रान्ता, मालिनी और स्रग्धरा से किया गया है। षष्ठ सर्ग में तो अनेक छन्द आये है, दुतविलम्बित,

उपेन्द्रवज्रा, त्रोटक, उपजाति, रथोद्धता, वंशस्थ, औपच्छन्दासिक, आर्यागीति, नत्कृष्ट, पृथ्वी, विद्युन्माला, शार्दुलविक्रीडित, मालिनी, बसन्ततिलका तथा पथ्यावक्त्, चपलावक्त्र, प्रमाणिका, युग्मविपुला, समानिका आदि भेदों के साथ अनुष्टुप का प्रयोग हुआ है। इसी सर्ग में चित्रालंकारों का भी प्रयोग किया गया है, जिस पर आगे विचार किया जायेगा। सप्तम सर्ग में उपजाति एवं अन्त में मालिनी तथा मन्दाक्रान्ता आये हैं। सप्तम सर्ग में भी उपजाति एवं अन्त में मालिनी तथा मन्दाक्रान्ता आये हैं। अष्टम सर्ग में उपजाति और अवसान में प्रहर्षिणीवृत्त का प्रयोग किया गया है। नवम सर्ग में कृष्णविरह एवं गोपिका विलाप को सूचित करने के लिए कवि ने वियोगिनी वृत्त को स्थान दिया है अवसान मलिनी से किया गया है। दशम सर्ग में अनुष्टुप छन्द है। अन्त में बसन्ततिलका और मयूरवृत्त आये हैं। एकादश सर्ग के चौहत्तर श्लोकों में उपजाति एवं अन्तिम सात श्लोकों में क्रमशः मंजुभाषिणी, मालिनी, मन्दाक्रान्ता, प्रहर्षिणी, बसन्ततिलका (दो) और स्वागतावृत्त आये हैं। बारहवें सर्ग में उपजाति का प्रयोग करके पर्यवसान बसन्ततिलका और मन्द्राक्रान्ता से किया गया है। त्रयोदश सर्ग में भी उपजाति वृत्त है अन्त में मालिनी छन्द प्रयुक्त हुआ। चतुर्दश सर्ग में वंशस्थ वृत्त तथा अन्त में मन्दाक्रान्ता और मालिनी आय हैं। पञ्चदश सर्ग में ओपच्छन्दसिक वृत्त आया है। अवसान में शिखरिणी और मालिनी का प्रयोग किया गया है। षोडश सर्ग में अनुष्टुप छन्द है, अन्त में मालिनी और बसन्ततिलका छन्द है। सप्तदश सर्ग में रथोद्धता छन्द है पर्यवसान निशा तथा मन्दाक्रान्ता वृत्त से किया गया है। अष्टादश सर्ग में उपजाति एवं अन्त में मन्दाक्रान्ता छन्द आया है। एकोनविंश सर्ग में बसन्ततिलका

छन्द है, अवसान में मालिनी वृत्त प्रयुक्त हुआ है। विंश सर्ग में उपजाति का प्रयोग किया गया है, समाप्ति बसन्ततिलका और त्रोटक से हुई है। एकविंश सर्ग में स्वागतवृत्त है अन्त पुष्पिताग्रा से हुआ है। द्वाविंश सर्ग में अनुष्टुप छन्द का प्रयोग किया गया है, अन्त बसन्ततिलका और मालिनी से हुआ है। त्रयोविंश सर्ग में उपजाति छन्द आया है, अवसान में मालिनी और शर्दूलाविक्रीडित आये हैं। अन्तिम चतुविंश सर्ग में पुष्पिताग्रा छन्द है, तथा समाप्ति मालिनी, मन्दकान्ता और पुनः मालिनी वृत्त का प्रयोग करके की गयी है। इस प्रकार छन्द प्रयोग करते समय भी नियमों का समुचित पालन किया गया है।

सर्ग :

सर्गो की दृष्टि से महाकाव्य में न बहुत छोटे और न बहुत बड़े आठ से अधिक सर्ग होने चाहिए। यादवाभ्युदय में कुल चौबीस सर्ग हैं। सर्ग-विस्तार की दृष्टि से इन्हें न बहुत छोटा और न बहुत बड़ा ही कहा जा सकता है। इसमें तेईसवां सर्ग सबसे छोटा है, जिसमें बासठ श्लोक हैं और बाईसवां सर्ग सबसे बड़ा है, जिसमें दो सौ तैंतालिस श्लोक हैं। यद्यपि श्लोक संख्या की दृष्टि से यह सर्ग बहुत बड़ा प्रतीत होता है, किन्तु अनुष्टुप (छोटे छन्द) का प्रयोग होने के कारण इसका विस्तार भी वही है जो अन्य सर्गो का। अन्य सर्गो में श्लोकों की संख्या शत के व आस-पास है। इस प्रकार महाकाव्य का यह गुण भी इसमें प्राप्त होता है।

कथानक में भावबद्धता के विचार से सर्ग के अन्त में आगामी सर्ग की कथा सूचित कर दी जानी चाहिए। इस महाकाव्य में इस विशेषता का

भी सम्यक् दर्शन होता है। उदाहरण के लिए आदि और अन्त के सर्गो के कथा निर्देश पर एक दृष्टि डाली जा सकती है। प्रथम सर्ग के अन्त में यह वर्णित है कि सम्पूर्ण जगत् जिसकी कुक्षि में स्थित रहता है वहीं सर्वदेववन्द्य देवकी के गर्भ बने। फिर दूसरे सर्ग में आरम्भ से ही देवकी के दौहुद लक्षणों का वर्णन प्रारम्भ हो जाता है। इसी प्रकार अन्त्य और अन्त के उपान्त्य सर्गो (तेईसवें और चौबीसवें) के मध्य में भी कथा सूचित हुई है। सर्ग तेईस के अन्तिम श्लोक में आया है कि पाण्डवों से पूजित होकर कृष्ण द्वारकापुरी में आये और प्रियतमाओं के साथ विहार करते हुए उन्होंने अपनी स्वतन्त्रता को प्रत्यक्ष रूप से प्रकट किया। इसके बाद सम्पूर्ण चौबीसवें सर्ग में अपनी धर्मपत्नियों के साथ कृष्ण विहार वर्णित हुआ है।

वस्तु वर्णन :

महाकाव्य में सन्ध्या, सूर्य, चन्द्र, रात्रि, अन्धकार, दिन, प्रातःकाल, मध्याह्न, मृगया, पर्वत, ऋतु, वन, समुद्र, सम्भोग, विप्रलभ्य, मुनि, स्वर्ग, नगर, यज्ञ, रण, प्रयाण, विवाह, मन्त्र, पुत्रोदय आदि का यथोयोग्य सांगोपांग वर्णन होना चाहिए। प्रस्तुत महाकाव्य में प्रायः उपर्युक्त सभी वस्तुओं का तथा अन्य का भी वर्णन हुआ है। यथाक्रम सर्गानुसार उन पर संक्षेप में विचार करना समाचीन होगा।

विनय प्रदर्शन :

काव्य-रचना के प्रति कवि द्वारा अपनी विनम्रता या असामर्थ्य प्रकट करना भी महाकाव्यों में देखा जाता है। यादवाम्युदय में कविशार्दूल मंगलाचरण के अनन्तर ही कहते हैं कि जिसके एक-एक गुणों के अग्रभाग

का वर्णन करने में ही वेद-चारण श्रान्त हो जाते हैं। उसका यथावद् वर्णन अन्य क्षुद्रजन क्या कर सकते हैं? फिर इसका समाधान करते हुए कहते हैं कि मन्दबुद्धि वालों को भी यावच्छक्ति कृष्ण कथामृत का आस्वादन उचित ही है, क्योंकि यदि अमृत प्राप्त हो तो क्या मनुष्यों को नहीं ग्रहण करना चाहिए? इसलिए मैं भी लज्जा छोड़कर महाभारतार्णवामृत, विदुज्जीवनौषध, कृष्णाभ्युदय (यादवाभ्युदय) का वर्णन करता हूं। श्री देशिक का यह विनय प्रदर्शन महाकवि कालिदास रचित श्लोक ''क्वसूर्य प्रभवोवंशः क्वचाल्प विषयामतिः'' आदि में प्रकटित विनय की तुलना में रखा जा सकता है।

दौहृद वर्णन :

द्वितीय सर्ग के आदि में लगभग पैंतीस श्लोकों में देवकी के दौहृद का वर्णन किया गया है। जगन्नियन्ता कृष्ण के गर्भस्थ होने के कारण उनमें दौहृद के लक्षण भी असाधारण ही दिखते थे। कभी वह चित्रपट पर अखिल लोकों की यथोचित रचना करती थीं। कभी-कभी स्वप्न में वह अपनी आकृति को शेष पर शयन करती हुई, गरुड से जाती हुई, रत्नपीठ के ऊपर कमल पर बैठी हुई किन्नरों से स्तुति की जाती हुई देखती थीं।

सन्ध्या वर्णन :

सन्ध्या वर्णन को कवि ने उत्प्रेक्षाओं से सजाकर बहुत ही सुन्दर बना दिया है। संसार के तापों का उपशमन करती हुई सज्जनाभिलषित पर सन्ध्या कृष्ण के जन्म को सूचित करती हुई सी आयी। अर्कबिम्ब सिन्धु में डूब गया मानो सन्ध्या कुमारी ने गगन जलनिधि से क्रीड़ार्थ कमल लेकर फेंक दिया हो। सन्ध्या सुपर्णी को देखकर डरा हुआ दिवसपन्नवोन्द्र पाताल

में घुस गया। इसी तरह अनेक श्लोकों में सन्ध्या का वर्णन किया गया है।

रात्रि वर्णन :

सन्ध्या का अनुगमन करते हुए रात्रि का आना स्वाभाविक है। सन्ध्याकाल में चन्द्र और सूर्य के न रहने पर सब के नेत्रों को आच्छादित करता हुआ अन्धकार वियोगियों की शोकाग्नि के दिग्गत धूम सा समझा गया। भृंगानाद न होने के कारण मौन, मुकुलित, जलस्थ कमलिनियों ने दूर गये हुए पति (सूर्य) को प्राप्त करने के लिए तप किया। तमिसनीलाम्बर पहिनकर श्यामा (रात्रि युवती) उदयाचल पर समय (काल संकेत) से छिपे हुए पति के पास अभिसरण करने के लिए तत्पर हुई। इस प्रकार आचार्य चरण ने रात्रि का बहुत ही मनोहर वर्णन किया है।

चन्द्रोदय वर्णन :

पति के बिना पत्नी का पत्नी ही सार्थक नहीं है। अतः रजनी का वर्णन करते समय रजनीश की कैसे उपेक्षा की जा सकती है। यादवाभ्युदय के द्वितीय सर्ग में लगभग चालीस श्लाकों में चन्द्रमा का अनुपम वर्णन किया गया है।

एक श्लोक में आचार्य वेदान्तदेशिक कहते हैं कि चन्द्रांश योग के कारण आकाश ने रात्रि में अन्धकार से मानो मोक्ष प्राप्त कर लिया जैसे तृष्णारहित तत्त्वज्ञ का रात्रि में अन्तर्मुख चित्त आत्मयोग के कारण अविद्या से मुक्त हो जाता है।

पुत्रोदय वर्णन :

साहित्य दर्पणकार के अनुसार महाकाव्य में पुत्र-जन्म का भी वर्णन होना चाहिए। इसमें श्रीकृष्ण के जन्म का वर्णन हुआ है। श्रीकृष्ण का जन्म होने पर देवगण पुष्पवृष्टि करने लगे। संसार प्रसन्नचित हो गया, दिशायें अन्धकाररहित होकर प्रकाशित हो गयी, रात्रि ने दिन जैसी शोभा प्राप्त की। आनन्दित अप्सराओं ने आकाश में नृत्य किया, किन्नरों ने गीत गाया, दशों दिशाओं में जयजयकार की आकाशवाणी हुई, इत्यादि रूप में पुत्र-जन्म का वर्णन किया गया है।

बाल क्रीड़ा वर्णन :

दर्पणकार द्वारा प्रयुक्त 'पुत्रोदयादयः' के आदि पद से बाल्यावस्थादि का वर्णन भी ग्रहण किया जा सकता है। बालकृष्ण की बाल लीलायें तो सर्वप्रसिद्ध हैं। वेदान्तदेशिक भी उनके बाल्य-वर्णन का मोह संवरण नहीं कर सके हैं। सम्पूर्ण चतुर्थ अंक में कृष्ण की बाल लीला का ही वर्णन है, जिसके अन्दर चीरहरण एवं गोचारण का भी उल्लेख किया गया है। कृष्ण की बाल लीला के अन्तर्गत पूतनावध, शकटवध, तृणावर्तवध, यमालर्जुन मोक्ष आदि का भी वर्णन हुआ है। आंगन में घुटने के बल कृष्ण के चलने पर लज्जाशील पृथ्वी ने धूल के बहाने कृष्ण का आलिंगन किया। कृष्ण दो-तीन डग चलने पर ही थक जाते तो घुटने के बल चलने की इच्छा करते थे, जब वे झुकते तो धन्य हुई यशोदा उठाकर उन्हें स्तनपान कराने लगतीं। इसी प्रकार कृष्ण की बाल चेष्टाओं का बहुत स्वाभाविक वर्णन किया गया है।

ऋतु वर्णन :

महाकाव्य में ऋतुओं का वर्णन भी एक आवश्यक तत्त्व माना जाता है। इस ग्रन्थ में सर्वप्रथम पंचम अंक के आदि में ग्रीष्म ऋतु का वर्णन मिलता है। ग्रीष्म ऋतु के आने पर रसालों में फल पकने लगे, पाटल पुष्प की सुगन्ध के साथ पवन चलने लगा, मल्लिका पुष्प ने समृद्धि प्राप्त की। कृष्ण ने बलराम के साथ ग्रीष्म का सेवन किया। सुन्दरियों के वक्षस्थल पर कपूर हिमोदकादि धारण करने एवं कंचुकादि वस्त्रों से रहित होने के कारण युवकों के लिए ग्रीष्म ऋतु बसन्त से भी अधिक प्रशंसनीय हुई। इसी प्रकार कृष्ण के वृन्दावन में रहने पर ग्रीष्म ऋतु होने पर भी न तो तूफान ने वृक्षों को तोड़ा, न सूर्य ने जल को तप्त किया और न दावाग्नि ने वन्य जीवों को दग्ध किया। गोपगण सुखपूर्वक गायें चराते थे, इत्यादि रूप में ग्रीष्म ऋतु का वर्णन किया गया है।

ग्रीष्म ऋतु के बाद वर्षा ऋतु का आना स्वाभाविक है। सूर्य की किरणों से उत्पन्न गायों के ताप को दूर करती हुई अनेक प्रकार के सत्वों की उत्पत्ति से मेचकित अंगों वाली मेघमाला से युक्त, क्षीरशायी भगवान् की योगनिद्रा की वेला (वर्षाऋतु) आयी। दृष्टि के कारण स्वच्छ अविरत श्रृंगनाद वाले क्रकत्वाकार केतकी के पत्तों से काम ने मानवती सुन्दरियों का नाम विदीर्ण कर दिया। मेघसिक्त स्थलों में विविध प्रकार के अंकुर उसी प्रकार निकले, जैसे मधुसूदन से कटाक्षित पुरुष में श्रद्धा, दया आदि सद्गुणों का समूह उत्पन्न होता है। विद्युत रूप शस्त्र वैभव सम्पन्न, गम्भीर नाद वाली, विचित्र धनुष धारण किए हुए उड़ती हुई बलाकापंक्तिरूप ध्वज

वाली मेघमाला अपूर्व कामसेना बन गई थी। इसी प्रकार अनेक श्लोकों में आचार्य ने वर्षा ऋतु का बहुत सुन्दर वर्णन किया है।

शरद ऋतु का आगमन हुआ। मेघों द्वारा नक्षत्र मार्ग छोड़ देने के कारण हंसगणों ने निर्मलता की प्रशंसा की। श्वेत, रक्त, कृष्ण कमलों की शोभा से शरददिवस श्रीकृष्ण द्वारा व्यक्त की गयी। त्रिगुणात्मिका माया के समान शोभित हुआ। यमुना जो विभिन्न प्रकार के कमलों के कारण अनेक रूप दिखायी पड़ती थीं। कुमुद पुष्पों से युक्त यमुना, नक्षत्रों से अलंकृत रात्रि और हंसपंक्ति सहित नभः स्थली को कृष्ण ने त्रिधाभूतः एक ही वस्तु समझा। कल्हाररूप कर्णपूर वाली, बन्धूक रूप तिलक वाली, पद्म पराग को विखेरने वाली शरद् कृष्ण की अनुपम सैरन्ध्रिका बन गयी। इस प्रकार शरद ऋतु ने परम रमणीय शोभा को धारण किया।

अन्य ऋतु के वर्णन की तो उपेक्षा की जा सकती है किन्तु ऋतुराज बसन्त का महाकाव्य में उचित स्थान न पाना कवि की रसहीनता का ही सूचक समझा जायेगा। वेदान्तदेशिक ने अष्टम सर्ग में बसन्त ऋतु का सहृदय जनाहलादि वर्णन किया है। प्रसूनायुध के सौभाग्य को बढ़ाने वाला मन्दानिल बहने लगा। युवकों के लिए मनोहर समशीतोष्ण दिन आये। मनस्विनीमान गजेन्द्र को विदीर्ण करने के कारण पंचायुधपंचवस्त्र पलाशमुकुलाकृति रक्त नखों से शोभित हुआ। कौकिल जगद्विजयोद्यत काम की जयध्वनि करने लगे। चम्पक मुकुल कामोत्सव मंगलार्थ बसन्तलक्ष्मी द्वारा प्रदत्त दीपांकुरों के समान दिखायी पड़े। बसन्त ने प्रसूनहास से युक्त

अधरपल्लवों वाली, किंजल्करूम रोमांच से युक्त, मन्द पवनकृत कम्पयुक्त बल्लरियों के सौन्दर्य का उपभोग किया।

इस प्रकार आचार्य वेदान्तदेशिक ने ऋतुओं का बहुत ही रमणीय एवं यथोचित वर्णन किया है।

मृगया वर्णन :

महाकाव्यों में मृगया का वर्णन भी आवश्यक माना जाता है। कवि होने के नाते महाकाव्य के इस वैशिष्ट्य की उपेक्षा आचार्य नहीं कर सके। अतः पंचम सर्ग में बीस श्लोकों में उन्होंने मृगया का वर्णन किया है। ग्रीष्म की उग्रता के कारण क्षुधा पीड़ित दुष्ट जीवों ने गायों को क्षुब्ध करना प्रारम्भ कर दिया, यह देखकर कृष्ण ने बलराम के साथ विहार किया। कृष्ण के अनुचर वत्सपालों ने असंख्य पाशों से वृन्दावन को रूद्ध दिया ताकि जानवर बाहर न निकल सकें। निषादाधियों से जानवरों के निर्गममार्ग को जानकर गोपगण धनुष लेकर मार्ग में छिपकर बैठ गये। कृत्रिम मृगादि जानवरों को वन में फैलाकर गोपों ने छिपकर कृत्रिम बोली बोलकर मृगों को अपनी ओर आकृष्ट किया। एक-दूसरे पर क्रुद्ध होकर वराहों ने कुत्तों पर और कुत्तों ने वराहों पर तीक्ष्ण दांतों से प्रहार किया। गोपों ने कोलाहल से वन्य जीवों को आकुल कर दिया। बलराम ने सिंहों को मार डाला। मारे हुए कृष्ण सारादि मृगों के चर्म से प्रसन्न गोपों ने पत्नियों के शयन योग्य आस्तरण बनाया। मृगया द्वारा सज्जनों की रक्षा एवं दुष्टों के विनाश की शिक्षा देते हुए कृष्ण ने अवशिष्ट शान्त प्राणियों वाले वन को गायों के लिए स्वेच्छाचरण योग्य बना दिया।

विवाह वर्णन :

दर्पणकार के अनुसार महाकाव्य में विवाह का भी वर्णन होना चाहिए। महाकाव्य का यह वैशिष्ट्य भी प्रस्तुत काव्य में हमें मिलता है। रूक्मिणी एवं कृष्ण का विवाह सांगोपांग वर्णित हुआ है। सर्वप्रथम कुलबृद्ध नारियों ने वधू के अंगों को आभूषणों से ढक दिया। वर-वधू रूप कृष्ण और रूक्मिणी के यथोचित प्रयुक्त मांगलिक माल्याभरणाक्षतों ने निश्चय ही लोक का कल्याण करने के लिए उनके अंगों में मंगलद्रव्यता प्राप्त की। कृष्ण के हाथ में मंगलसूत्र बांधा गया। पुरोहित द्वारा वैवाहिक अग्नि जलाई गई। लाजा होम के समय दीर्घायुरस्तु में पतिर्जीवातु शरदाश्शतम् इत्यादि क्षेमविषयक मन्त्रोच्चारण करते हुए आदिम दम्पति एक-दूसरे को कटाक्षों से देखकर मुस्करा दिये (महाकल्प भी जिसका एक दिन है वह मानवीय शतवर्ष के आयुष्य की कामना कर रहा है। यह सोचकर उन्होंने एक-दूसरे को सस्मित देखा) परस्पर पाणिसरोज के स्पर्श से वे दोनों रोमांचित हो गये। सख्योचित सप्तपदी करते हुए उन्होंने भावी दम्पतियों के लिए मार्ग निर्देश किया। एकमिषे विष्णुस्त्वा नयतु इत्यादि उच्चारण करते हुए, प्रिया के पीछे-पीछे चलते हुए कृष्ण ने अग्नि की परिक्रमा करते हुए मन्त्र को सार्थक बनाया। कृष्ण ने रूक्मिणी के चरणारविन्द को अपने कर कमलों से पकड़ कर अश्म पर स्थापित किया। फिर कृष्ण ने अग्नि की स्तुति की। राम की सीता और विष्णु की लक्ष्मी के समान इनकी तुम सदैव पत्नी बनो इत्यादि रूप में यादववृद्धनारियों ने रूक्मिणी को आर्शीवाद दिया। पुरोहित ने आशीष दिया। अमात्यवृद्धों ने रत्नोपहार दिया। मुनियों ने मंगल कामना करते हुए स्तुति की। पुरवासीजन उन्हें प्रभूत उत्तम उपहार प्रदान

करके अपने घर गये। इस प्रकार सविस्तार बहुत सुन्दर रूप में रूक्मिणी विवाह वर्णित हुआ है।

पर्वत वर्णन :

महाकाव्य में पर्वत वर्णन भी आवश्यक माना जाता है। यादवाभ्युदय महाकाव्य में अनेक पर्वतों का वर्णन हुआ है। सर्वप्रथम तो षष्ठ सर्ग के लगभग शत श्लोकों में गोवर्धन का वर्णन किया गया है। गोवर्द्धन का वर्णन करने में आचार्य ने अत्यधिक प्रकर्ष प्राप्त किया है। नारायण स्वरूप गोवर्द्धन के वैचिष्य प्रतिपादन में आचार्य देशिक ने 22 छन्दों का प्रयोग किया है तथा शब्दार्थालंकारों के अतिरिक्त बुद्धिविलास प्रकट करने वाले, विभिन्न प्रकार के चित्रालंकारों का भी वर्णन किया है। गोवर्धन पर्वत के अतिरिक्त सुमेरू, वर्ष, क्लेश, क्रौंच, मन्दराचल, हिमालय एवं कलिन्द पर्वतों का वर्णन किया गया है। नरकासुर का वध करने के अनन्तर अदिति को कुण्डल प्रदान करके स्वर्ग से वापस आते समय कल्पवृक्ष ले लेने पर युद्धोद्यत इन्द्र को पराजित करके द्वारका लौटते समय गरुडारूढ़ कृष्ण को मार्ग में जो पर्वत और देश दिखायी पड़े है, उनका परिचय उन्होंने सत्यभामा को दिया है। सुमेरू के चारों ओर घूमते हुए सूर्यादि नक्षत्रों को देखकर वे कहते हैं कि मानों ब्रह्मा द्वारा पर्वत श्रेष्ठ सुमेरू की आरती की जा रही है। कालिन्द पर्वत का वर्णन करते समय यमुना को देखकर कहते हैं कि अपने समृद्धपिता कलिन्द के पास से आती हुई कालिय दोष (विष) को त्याग कर शुद्धमती यमुना सखी सदृश गंगा के साथ सरित्पति के पास जा रही है। इसी प्रकार अन्य पर्वतों का भी बहुत

रमणीय दृश्य उपस्थित किया गया है। यहां पर द्विङ्ग मात्र उदाहृत हुआ है।

आश्रम वर्णन :

महाकाव्य का वैशिष्ट्यभूत आश्रम वर्णन भी यादवाभ्युदय में मिलता है। गरुड से आते हुए कृष्ण ने गंगा के निकट ही देवों से प्रशंसित दिव्य बदरिकाश्रम को देखा, जहां पर स्वयं नारायण नर के साथ स्वाचरण द्वारा नि:श्रेयस का मार्ग दिखा रहे थे। यहीं पर योगीरूप में स्थित नारायण ने अपनी जांघों से उर्वशी को उत्पन्न करके तपोविध्नार्थ सौन्दर्य से अपने वश में करने की लोलुप अप्सराओं को लज्जित किया था। उसके समीप ही दक्षिण और अग्निकोण पर श्रेष्ठ वामनाश्रम है। इन्हीं एकान्तहृद्य तपोवनों में कलियुग में धर्म एक चरण से अपनी स्थिति धारण किये हुए हैं। यहां निकट के वृक्षों में रहने वाले शुकादि पक्षी श्रुतियों का उच्चारण करते हैं। सामने की ओर सान्दिपनिका आश्रम हैं। यहीं पर कृष्ण भगवान् ने तीनों वेदों का अध्ययन किया था।

समुद्र वर्णन :

इसी अष्टादश सर्ग में समुद्र का भी वर्णन किया गया है। समान वर्णवाली भव्य वेलाटवी सवर्णा, योग्य पत्नी के समान शोभित होती है। तरंगों द्वारा चारों ओर पृथ्वी पर फेंका गया फेन पूजित अतिथि देवों के उच्छिष्ट भोजन के समान प्रतीत होता है। वाडवाग्नि के समान प्रकाशमान विद्रुमों का पंक्ति नारायण द्वारा मारे गये मधु कैटभ की मांस परम्परा सदृश ज्ञात होती है। जल भरकर सहसा उठते हुए, इन्द्रधनुष सहित, गरजते

हुए मेघ दुर्जन्य अन्तरिक्ष को जीतने के लिए प्रवृत्त समुद्र के पुत्रों के समान दीखते हैं। फेन रूपी हास वाला, प्रवाल रूप जटावाला, तरंग भुजाओं से भुजंगों को उठाते हुए स्वभाव से भयंकर समुद्र संहार काल के रूद्र का अनुकरण करता है। अगस्त्य के द्वारा अशैषत: पी लिया गया समुद्र स्नानार्थ आते हुए ब्राह्मणों से मानों डर कर कांप रहा है। इस समुद्र के निर्दोष तरुण वर (विष्णु) को कन्या प्रदान करके दहेज में कौस्तुभ मणि दी और विवाहोत्सव में आये अन्य देवों की वाहन भोजनादि से पूजा की। तट प्रदेशों में इस समय तरंगहस्त से फैन पंक्ति में फैलाते हुए समुद्र तुम्हें (सत्यभामा को) प्रसन्न करने के लिए पांवड़े बिछा रहा है। इसी प्रकार बहुत विस्तार से समुद्र की अनुपम छटा पर कवि ने प्रकाश डाला है।

नगर वर्णन :

इस महाकाव्य में नगर का वर्णन करने के लिए विश्वकर्मा द्वारा रचित द्वारका को ही आचार्य ने लक्ष्य बनाया है। श्री कृष्ण द्वारका की शोभा दिखाते हुए सत्यभामा से कहते हैं कि युद्ध में इन्द्रादि सहित नरकासुर को जीतकर वापस आए हुए मेरे स्वागत में पुरवासी आनन्दयुक्त कोलाहल के समुद्र के शब्दों को दबा देते हैं। बंधे हुए विजयध्वज की पंक्तियों से सुशोभित, फूलों से मनोहर राज मार्ग वाली, स्तम्भों की शोभा से युक्त द्वारका हर्ष व्यक्त कर रही है। समुद्र ही इसमें खात है और ऊंची लहरें ही प्रकार के समान हैं। अपनी पताकाओं से आकाश को धारण किए हुए सी प्रतीत होती है। घर के मुडेरों पर मयूर बैठे हैं।

पंजरस्थ शारिकायें बोल रही हैं, इत्यादि रूप से द्वारका का वर्णन किया गया है।

प्रातःकाल वर्णन :

महाकाव्य में प्रातःकाल का भी यथास्थान वर्णन किया जाना चाहिए। प्रस्तुत महाकाव्य इस गुण से भी युक्त है। सूर्य का प्रकाश आने पर खद्योत और तारागण नहीं दिखते हैं। मृगनयनी स्त्रियां निद्रालस मयूरों को आवास यष्टि के शिखरों से उतार रही हैं। ताम्रचूडगण अन्तर्निलयों से निकल कर रत्नांगण में क्रीड़ायुद्ध कर रहे हैं। मणिपंजरस्थ शारिकायें मधुर वर्णन कर रही हैं। चन्द्रमा अपनी किरणों के सम्पर्क से गंगा सदृश धवल जल वाले समुद्र में मानों स्नान करने की इच्छा से जा रहा है पूर्वाब्धितल्प को छोड़ते हुए सूर्य से पहले उठी हुई सन्ध्या कमलनयनी के सीमन्तित तिमिरकुन्तल के मध्यमार्ग में किरणरेखा सिन्दूरराशि के समान प्रतीत होती है। प्राची दिशा दिनपति से परिभोग चाहती हुई चन्द्रिका के बहाने श्वेत वस्त्रों को हटाकर अल्पावशेषित नक्षत्राभरणों वाली सूर्यसारथी अरुण द्वारा सम्पादित अंगराग (अरूणिमा) धारण कर रही है। इसी प्रकार तिहत्तर श्लोकों में बहुत ही मनोहर प्राभातिक वर्णन किया गया है।

सूर्योदय वर्णन :

सूर्योदय वर्णन भी प्रभात वर्णन का अंग ही है। महाकाव्यों में सूर्योदय वर्णन करने का भी निर्देश प्राप्ति होता है। प्रस्तुत काव्य में प्रभात वर्णन के अन्तर्गत ही सूर्योदय का भी वर्णन आया है। अरुण द्वारा निशान्धकार का शमन कर देने पर भी उसे पूर्णतया समाप्त करने के लिए

सूर्य निकल रहे है, जैसे महापुरूषों की सेवा से किंचिंत समाप्त दहरादि विधीपासकों की पापराशि को निश्शेष करने के लिए अन्तर्यामी प्रकट होते हैं। निद्रा को एवं अन्धकार से सृष्टि के अवरोध को दूर करके सर्व प्रथम प्रत्यगाशाभिमुख प्रकाश फैलाते हुए समाधि के समान सूर्य मुक्ति पर्याय अपनी रश्मियों से विश्व को प्रकट करते हैं। इत्यादि गाम्भीयपूर्ण वर्णनों से सूर्योदय का चित्रण किया गया है।

सेना प्रयाण :

महाकाव्य में सेना के प्रयाण का वर्णन भी आवश्यक माना जाता हैं विवेच्य महाकाव्य में दो बार सैन्य प्रस्थान का वर्णन हमें सुलभ होता है। सर्वप्रथम बीसवें सर्ग में बाणासुर से युद्ध करने के लिए और दूसरी बार बाईसवें सर्ग में सात्यकि के नेतृत्व में दिग्विजय करने के लिए बुलाएं गए अप्रतिम पराक्रम सेनापतियों के साथ इन्द्रजित कृष्ण के उत्तर दिशा में प्रस्थान करने पर वर्षा के घन गर्जन सदृश प्रयाण तूर्यनाद द्वारा दो चरणों से पृथ्वी पर स्थित श्रेष्ठ धर्ममयूर नाच उठा। कृष्ण के यात्रा-पटह के निनाद से पृथ्वी और आकाश के कांप उठने पर उषा को छोड़कर बाणासुर के नगर-निवासियों के दक्षिण नेत्र फड़कने लगे। सभी जीवों के आश्रयभूत कृष्ण के प्रयाण काल में चन्द्र, सूर्य, नक्षत्र एवं अग्नि क्रमशः श्वेतातपत्र, कोस्तुभमणि, मुक्तावली और चक्र के रूप में सुशोभित हुए। कृष्ण के आगे बलराम प्रद्युम्नादि श्रेष्ठ यदुवीर सेना लेकर चले। शेष द्वारा येन केन प्रकारेण संभाली गयी पृथ्वी ने इसलिए प्रसन्न होकर सैन्य भार को सहन किया कि शीघ्र ही बाणासुर के सैन्यवध से उसका भार कम हो जायेगा।

कृष्ण के प्रस्थान करने पर सैन्योत्थ रेणु के बहाने मानो पृथ्वी भारावतार का प्रिय संवाद बताने के लिए स्वयं ब्रह्मा के पास चली गयी। इत्यादि रूप में सैन्य प्रमाण वर्णित हुआ है। साथ ही सात्यकि के नेतृत्व में दिग्विजय के लिए प्रस्थान करती हुई यदुवीरों की सेना पर भी एक दृष्टि डाल लेनी चाहिए। अमित पराक्रमी सात्यकि ने दिग्विजय प्रस्थानकाल में समुद्र को वत्सुका खुर, पर्वत को बालुकामय और पाताल को स्थल समझा। प्रलयमेघातुहकारी उनके प्रयाण पटह ने समुद्र के साथ पृथ्वी को कंपा दिया। प्रस्थान करती हुई सेना के कोलाहल से और वैरियों को (पतित्त्वेन) वरण करने के लिए आयी हुई अप्सराओं से आकाश भर गया। गरुड सदृश जयशील रथ पर चढ़कर सात्यकि दिङ्मंडल को जीतने वाले दूसरे कृष्ण से प्रतीत हुए। उनकी विशाल सेना में मित्र राजाओं की सेनाओं के मिलने पर समुद्र में वर्षा के जल के समान, वृद्धि नहीं दीख पड़ी। दीन संरक्षण व्रती महावली सात्यकि धाइयों द्वारा लाए गए शत्रुओं के शिशुओं पर अनुकम्पा करके उनको पुनः राज्यों पर प्रतिष्ठित कर देते थे। इत्यादि बहुत सुन्दर ढंग से रण प्रयाण का वर्णन किया गया है।

युद्ध वर्णन :

दर्पणकार के अनुसार युद्ध वर्णन भी महाकाव्य का एक आवश्यक तत्त्व है। प्रस्तुत महाकाव्य में युद्ध तो अनेक हुए हैं, किन्तु उनका सांगोपांग वर्णन नहीं किया गया है, कवि ने निर्देशमात्र किया है। दो युद्धों का विशद् एवं रोमांचकारी वर्णन किया गया है। प्रथम युद्ध इन्द्र के साथ और द्वितीय बाणासुर तथा उसके आराध्य प्रलयंकर के साथ कृष्ण ने किया

है। दोनों युद्धों में विजयश्री कथानायक के ही हाथ रही। देवराज और यदुराज के भयंकर युद्ध को देखने के लिए समाधि छोड़कर सनकादि दिव्य योगीजन भी ब्रह्मा के साथ उपस्थित हुए। इन्द्र द्वारा प्रक्षिप्त बाण गरुड के तेज में उसी प्रकार जकार भस्मसात हो जाते थे। जिस प्रकार प्रलयाग्नि में तुलराशि जल जाती है। कृष्ण ने अपराध करने वाले देवों का वध नहीं किया, क्योंकि स्वाश्रित जनों से कदाचित् अपराध हो जाने पर भी भगवान् कृष्ण दया का परित्याग नहीं करते हैं। जिस प्रकार हस्तिपक दुर्मद गजों को नियन्त्रण में रखने के लिए तीक्ष्ण अंकुश से प्रहार करता है, उसी प्रकार देवों के शिक्षणार्थ तत्पर कृष्ण ने अमर्मभेदी बाण चलाये। जिससे देवगण शक्तिरहित होकर विह्वल हो गये। क्रुद्ध होकर इन्द्र ने बज्र ग्रहण किया और कृष्ण ने चक्र संभाला, जिससे तीनों लोक कांप उठे। इन्द्र द्वारा प्रेषित भयंकर वज्र का कृष्ण द्वारा शमन कर दिये जाने पर देवसेना भाग खड़ी हुई। उस समय इन्द्र की दीन दशा देखकर सभी लज्जित हुए। उसी प्रकार बाणासुर और शंकर के साथ भी कृष्ण युद्ध का वर्णन हुआ है। यादवों और असुरों की सेना में भीषण कोलाहल से युक्त प्रलयसदृश युद्ध हुआ। अभयप्राप्त, स्वभक्त, दानव सार्वभौम बाणासुर की रक्षा करने के लिए असंख्य प्रमथगणों से अनुगत क्रुद्ध शंकर कृष्ण के पास गये। कृष्ण ने अपने बाणों से उनका स्वागत किया। कृष्ण ने गिरीश प्रयुक्त ज्वर को निरस्त करके संसार को ज्वर रहित बना दिया। इसी तरह बाणासुर और शंकर जी के साथ बहुत विस्तार से (56 श्लोकों में) युद्ध का वर्णन किया गया है। यहाँ उसका संकेतमात्र कर दिया गया है।

युद्ध के ही अन्तर्गत मल्लयुद्ध भी आता है। वैसे तो मुष्टिक चाणूरादि दानवों का वध मल्लयुद्ध में ही किया गया है, किन्तु जाम्बवान् के साथ हुए कृष्ण के मल्लयुद्ध का ही सविस्तार वर्णन कवि ने किया है। एक स्थान पर वे कहते हैं कि कृष्ण ने प्रलयकालीन वज्रसदृश अपने मुष्टिमुद्गर के प्रहार से न डरते हुए जाम्बवान् को युद्ध में असाधारण समझा। इसी प्रकार निरन्तर इक्कीस दिन तक होने वाले मल्लयुद्ध का वर्णन है। अन्त में रावण युद्ध में किए गए उपकारों को स्मरण करके उन्होंने जाम्बवान् के दर्प को चूर कर दिया।

पुरूषार्थ वर्णन :

महाकाव्य में जब चारों पुरुषार्थों का वर्णन आवश्यक माना जाता है तो तृतीय पुरुषार्थ के प्रमुख पोषक सम्भोग की उपेक्षा नहीं की जा सकती है। सम्भोग का तात्पर्य नायक-नायिका द्वारा की गयी उन समस्त क्रीड़ाओं से है, जो काम को उदीप्त करती हैं। प्रस्तुत महाकाव्य में हमें सांगोपांग सम्भोग का वर्णन मिलता है। जैसे कि पूर्व में काम पुरुषार्थ का स्थल निर्देश करते समय यह चर्चा की जा चुकी है कि यादवाभ्युदय के चौबीसवें सर्ग की सृष्टि ही सम्भोग द्वारेण कृष्ण बल्लभाओं की स्वर्गापवर्ग प्राप्ति बताने के लिए हुई है। सर्ग के प्रथम श्लोक में ही पूर्वजन्म में की गयी सेवाओं का फल प्रदान करते हुए कृष्ण का अपरिमित सौन्दर्यादिगुणयुक्त बल्लभाओं के साथ रमण बताया गया है। अनन्यचित्त प्रियतमाओं के साथ चन्द्रशाल पर चढ़कर चारों ओर समुद्र को दिखाते हुए द्वारका को अपने धाम (बैकुण्ठ) के समान बताते थे। उचित गुफाओं में

लगे हुए तूल तल्पों से युक्त क्रीड़ा पर्वतों पर वे विहार करते थे। कभी दोलारोहण करते तो कभी जल-विहार करते थे, कभी पुष्प मण्डलों का सेवन करते थे तो कभी प्रियतमाओं को सुशिक्षित एवं शास्त्रों का उच्चारण करते हुए शुक दिखाते, कभी कन्दुक क्रीड़ा करते तो कभी आंखमिचौली करते। ग्रीष्मकाल में फौव्वारों से शीतल किए गए महलों में वारांगनाओं के साथ निवास करते थे। शिशिर के शीतल समीर को गाढ़ परिलम्भ से प्राप्त बल्लभाओं के स्तनकलश की उष्मा से शीघ्र जीत लेते थे। उपनिषद् विधानिष्णात मुनियों से सेवित कृष्ण सामतन्त्रनिष्ठ होकर ललितकलाओं के आचार्य बने। इसके अतिरिक्त अष्टम सर्ग में जलक्रीड़ा और रासलीला का मनोमुग्धकारी वर्णन किया गया है जो कि सम्भोगांग ही है। कहने का तात्पर्य यह कि आचार्य वेदान्तदेशिक कामशास्त्र के रहस्यों का भी स्फुट चित्रण करने में बहुत सफल हुए हैं।

विप्रलम्भ वर्णन :

श्रृङ्गार का ही दूसरा भेद विप्रलम्भ है। प्रिय के विरह जन्य दुःख का ही नाम विप्रलम्भ है। महाकाव्य में इसका वर्णन भी गुण माना जाता है। यादवाभ्युदय में प्रिय के वियोग की कारुणिक बेला उपस्थित हुई है। कंस द्वारा बुलाये जाने पर जब अक्रूर के साथ बलराम और कृष्ण ने मथुरा के लिए प्रस्थान कर दिया तो ब्रजांगनायें कुररी के समान विलाप करने लगीं। बाल्यावस्था से ही हम लोगों के प्रति बढ़ा हुआ कृष्ण का प्रेम विषम प्रवाही विधाता द्वारा बालू के बांध के समान तोड़ा जा रहा है। मैं तुम्हारा हूं, तुम मेरी आंखें हो इत्यादि प्रलोभन देकर जब वे ही (हम)

ब्रजांगनाओं को छोड़ रहे हैं तो इसके आगे क्या कहें? समुद्र अमृत और विष का प्रभवस्थान है, यह कृष्ण द्वारा अपने संयोग और वियोग द्वारा निश्चय ही दिखाया गया है। दुर्दैव द्वारा हटाये गये कृष्ण कभी आकर क्या हमें मदन के प्राण सदृश कटाक्षों से फिर सजीव बनायेंगे? न रथ दिखायी पड़ रहा है, न नेमिका शब्द ही सुनाया पड़ता है और न रेणु ही उठ रही है, फिर भी हमारा जीवन समाप्त नहीं हो जाता है इत्यादि रूप में ब्रजांगनाओं ने बड़ा कारुणिक विलाप किया है जो कि विप्रलम्भ को सूचित करता है।

तात्पर्य यह है कि वस्तु वर्णन की दृष्टि से भी जो वर्णन महाकाव्य में आवश्यक समझे जाते हैं, उनका बहुत ही सुन्दर चित्रण यादवाभ्युदय में किया गया है।

अभिधान :

महाकाव्य का नाम कई आधारों पर रखा जा सकता है। कवि के नाम के आधार पर भी कई काव्यों की प्रसिद्धि हो जाती है, जैसे रावण वध के लिए भट्टिकाव्य और शिशुपाल वध के लिए 'माघ' की प्रसिद्धि हो गयी है। इतिवृत्त के आधार पर भी महाकाव्य का नाम रखा जा सकता है, जैसे किरातार्जुनीयम् आदि। नायक के नाम से अभिहित महाकाव्यों में नैषधीयचरित्, रघुवंश आदि का नाम लिया जा सकता है। प्रतिनायक के नाम पर शिशुपाल वध महाकाव्य का नाम पड़ा है। प्रस्तुत महाकाव्य का नाम नायक के आधार पर ही मानना समीचीन है। इसके नायक श्रीकृष्ण है। इस महाकाव्य का नाम 'कृष्णाभ्युदयः या यादवाभ्युदयः'

है। यादव शब्द से कृष्ण का बोध सहज ही हो जाता है। कोई क्लिष्ट कल्पना नहीं करनी पड़ती। इतिवृत्त के आधार पर इसका नाम नहीं माना जा सकता है। यद्यपि महाकाव्य में यदुवंशियों का अभ्युत्थान प्रकट किया गया है, किन्तु उनकी उन्नति को महाकाव्य का कथानक नहीं कहा जा सकता है। वह तो इसके इतिवृत्त से प्राप्त होने वाला फल है जिसका सम्पादन श्रीकृष्ण द्वारा होता है। अतः 'यादवाभ्युदय' नाम नायक के आधार पर ही मानना उपयुक्त है। इस महाकाव्य के 'कृष्णाभ्युदय' नाम से भी यही बात सिद्ध होती है और किसी प्रकार का सन्देह नहीं रह जाता है।

सर्ग में वर्णित कथा के नाम पर सर्ग का नाम किया जाना चाहिए। कुछ सर्गो का नाम तो प्रकाशित ग्रन्थों में सर्गोपसंहार में मिल जाता है किन्तु अधिकांश का नामकरण नहीं किया गया है। वर्णित कथाओं के आधार पर ही उनका नाम इसी आध्याय के आरम्भ में सर्ग सारांश में दिया गया है।

इस प्रकार आचार्य विश्वनाथ कृत 'साहित्यदर्पण' के महाकाव्य लक्षणों की कसौटी पर कसने से इस निष्कर्ष पर सरलता से पहुंचा जा सकता है कि 'यादवाभ्युदय' निस्सन्देह एक उत्कृष्ट महाकाव्य है, जिसमें महाकाव्य के सभी गुण विद्यमान हैं।

विवेचन :

24 सर्गों में विरचित इस महाकाव्य के इतिवृत्त का स्रोत तो श्रीमद्भागवत रहा है। कालिदास विरचित महाकाव्य 'रघुवंश' और

'कुमारसम्भव' की रचना पद्धति से प्रभावित होकर वेदान्तदेशिक ने भी अपनी कृति में उसी सरणि का अनुसरण किया है।

यादवाभ्युदय की रचना के सम्बन्ध में एक कथानक परम्परया चला आ रहा हैं विजयनगर के राजकवि डिण्डिम सार्वभौम ने अधोलिखित शब्दों में वेदान्तदेशिक के समक्ष घोषणा कि-

प्राज्ञानामेव राज्ञां सदसि न सहते जल्पमल्पेतरेषां

क्षु द्रेष्वाक्षेपमुद्रां न खलु गणयते डिण्डिमः सार्वभौमः।

मांकुर्वद्भेककुक्षिभरिषु भय भरभ्रान्तमोगीन्द्रसुभू

भृणभ्रंशी किमम्भः फणिषु पतगराट् संभ्रमी वंभ्रमीति।

वेदान्तदेशिक इससे तनिक भी हिचके नहीं और शान्तभाव से तत्काल उत्तर देते हुए उन्होंने कहा-

बाह्यैर्वर्णाडम्बरैमभ्रिमन्तु छित्वा गर्भाभ्यन्तरं शोधयन्तु।

निर्णेतारो नीरसत्वेन कोवा डिण्डीराणां डिण्डिमानांच भेदः।।

कवि की इस कवित्व शक्ति से डिण्डिम कवि प्रभावित तो हुए किन्तु इतनी सरलता से वे उनकी श्रेष्ठता स्वीकार करना नहीं चाहते थे। वेदान्तदेशिक को आश्चर्यान्वित करने के लिए उन्होंने स्वरचित महाकाव्य को उनके समक्ष प्रस्तुत किया। वेदान्तदेशिक भी घुटने टेकने वाले नहीं थे। उन्होंने दूसरे दिन अपने महाकाव्य को उपस्थापित करने की सूचना दी। रात भर में रचना पूर्ण करके यादवाभ्युदय को उन्होंने दूसरे दिन राजसभा में डिण्डिम के समक्ष रख दिया। डिण्डिम कवि इसके काव्य गुणों से आश्चर्य

चकित हो गये और वेदान्तदेशिक के कवितोत्कर्ष को स्वीकार करते हुए वेदान्तदेशिक जैसे महाकवि से पराजित होने में भी उन्होंने गर्व का अनुभव किया-

द्विचतुष्पदपरिवर्तन गर्वित कविशरभगण्डमेरूण्ड:।

खण्डनखण्डनकविरिह डिण्डिमकविगण्डडिण्डमो जयति।

यादवाभ्युदय की रचना के सम्बन्ध में इस कथानक को स्वीकार नहीं किया जा सकता है। एक रात्रि में इस महाकाव्य की रचना सर्वथा असम्भव है। इसके प्रणयन के लिए पर्याप्त समय और श्रम अपेक्षित है। सम्भवत: इसकी रचना कांची, तिरूपति और श्रीरंगम् में समय-समय पर निवास काल में हुई होगी। यह हो सकता है कि राघवाभ्युदय या अन्य किसी काव्य को देखकर इसे लिखने में वे प्रवृत्त हुए हों। अथवा सम्पूर्ण ग्रन्थ की रचना पहले ही हुई हो कुछ संशोधन आदि एक रात्रि में करके उन्होंने दूसरे दिन राजसभा में प्रस्तुत किया हो।

कवि की यादवाभ्युदय, पादुकासहस्रम् और संकल्प सूर्योदय नामक तीनों महाकृतियों के उद्भव के विषय में इसी प्रकार के कथानकों की कल्पना की गयी है। ये कथानक कवि के असाधारण कवित्वशक्ति से प्रभावित लोगों द्वारा उनकी प्रशंसा के लिए अर्थवाद रूप में प्रचलित कर दिए गए होंगे, उनकी वास्तविकता सर्वथा संदिग्ध ही है।

व्यतनुत यदुवीर प्रीतिमिच्छन् के द्वारा कवि ने इस महाकाव्य का प्रयोजन प्रतिपादित किया है। अन्य महाकाव्यों से यह विलक्षण है। काव्यं यशसेऽर्थकृते आदि प्रयोजनों से इसकी रचना नहीं की गयी है अपितु

भगवत् प्रीति को प्राप्त करना या भगवन्मुखोल्लास करना ही इसका परम प्रयोजन है। भगवत्प्रसाद ही भगवत्प्राप्ति में उपाय है, इस रामानुजीय सिद्धान्त को ध्यान में रखकर ही कवि इसकी रचना में प्रवृत्त हुआ है, अन्य साधारण प्रयोजन तो भवबन्धनमूलक होने के कारण सर्वथा परिहरणीय ही हैं।

प्रयोजन के साथ ही कवि इस ग्रन्थ के परिशीलन का फल भी प्रदर्शित करता है। क्षेमदं काव्यरत्नम् के द्वारा कवि ने अभ्युदयनिःश्रेयस रूप मंगल को इस काव्य के परिशीलन का फल बताया है। वह इस महाकाव्य को काव्यरत्न कहता है। अन्य काव्यों की अपेक्षा इस काव्य की उत्कृष्टता कैसे है? यह प्रश्न मीमांसा चाहता है। अप्पयदीक्षित के अनुसार, अनेक कारणों से यह काव्य अन्य रचनाओं से श्रेष्ठ है। वे कहते हैं-'प्रबन्धृ गौरवेण, नायक गौरवेण, शब्दार्थचमत्कार-कथासन्दर्भसौभाग्य-कथासत्यत्वरूपेण, स्वतः प्रबन्धगौरवेण च तदुत्कर्षः।

इस ग्रन्थ का भावगाम्भीर्य और कृतिवैचिय सर्वथा प्रशंसनीय है। प्रथम सर्ग के नवम श्लोक की टीका करते हुए विद्वद्वरेण्य अप्पयदीक्षित भावाभिव्यंजनाओं को प्रदर्शित करते हुए मुग्ध हो जाते हैं और घोषणा करते हैं कि इसी प्रकार के भावों से यह ग्रन्थ आमूलचूड़ परिपूरित हैं, किन्तु विस्तार भय से उनका विवेचन आगे नहीं किया जायेगा। वे कहते है-

इत्थं विचिन्त्याः सर्वत्र भावाः सन्ति पदे पदे।

कवितार्किक सिंहस्य काव्येषु ललितेष्वपि।।

किन्तु विस्तरापदेर्नेवमग्रे प्रपंच्यते।

मणिकांचन संयोग के समान ही यादवाभ्युदय महाकाव्य और अप्पयदीक्षित की टीका देखने में आती है। जिस प्रकार कवितार्किक सिंह इस काव्य के रचयिता थे, उसी प्रकार सहृदयमूर्घन्य सर्वशास्त्रपारदृश्वा उसके व्याख्याता मिले। खैस्त्राब्द की सोलहवीं शती के उत्तरार्द्ध में विजयनगर के महाराज चिन्नतिम्भराज महाराज की रूचि इसमें कैसे हुई इत्यादि का उल्लेख अप्पयदीक्षित ने व्याख्यारम्भ के पूर्व किया है वे कहते हैं-

साहित्यागोष्ठीं सरसा मातिष्ठन्नयमेकदा।

यादवाभ्युदय काव्यमशौषीत् विदुषां मुखात्।।

तदाकर्णनतः सम्यक् समुदंचत्कुतूहलः।

विदुषां पुरतस्तस्य विवृती मां न्युयूजत्।।

उन्होंने अपनी अद्वितीय प्रतिभा द्वारा कवितार्किक केशरी के इस महाकाव्य को शाण पर खरादे गये हीरे के समान चमकाकर सहृदय जनोपभोग्य बना दिया।

संस्कृत साहित्य में श्रीकृष्ण के विषय में यादवाभ्युदय के समान दूसरा कोई काव्य ग्रन्थ नहीं है। माघ की काव्यकृति में श्रीकृष्ण के अवतार आदि को छोड़कर शिशुपाल के वध को ही विषय बनाया गया है। अतः उससे कृष्ण चरित पर पूरा प्रकाश नहीं पड़ता है। यादवाभ्युदय का कथानक भी कृष्ण के भोगाभ्युदय वर्णन तक ही सीमित है। धर्म द्वारा अर्थार्जन करके तृतीय पुरुषार्थ काम में प्रवृत्त होना चाहिए। पृथ्वी का भार

उतार कर भगवान् कृष्ण की भोग में प्रवृत्ति का वर्णन करते हुए ही ग्रन्थ को समाप्त किया गया है। ग्रन्थ के यादवाभ्युदय नामकरण को तथा मंगलान्त परिसमाप्ति को ध्यान में रखकर कृष्ण चरित की आगे की घटनाओं–यदुकुलनाश, श्रीकृष्ण के तेज का तिरोभाव आदि की उपेक्षा कवि ने कर दी है।

चौबीस सर्गात्मक इस काव्य की रचना से चतुर्विंशति सहस्रात्मक वाल्मीकि रामायण और चतुर्विंशत्यक्षरात्मक गायत्री मन्त्र से समानता स्थापित करके कवि ने यह काव्य परिशीलन करने वालों की रक्षा करें इत्यादि भावों को द्योतित किया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि यादवाभ्युदय महाकाव्य भगवत्प्रीत्यर्थ प्रणीत, सकलमंगलदायक, श्रीकृष्णचरित विषयक, शान्तरसप्रधान, प्रसादगुणसंवलित एक उत्कृष्ट रचना है। जिस पर अप्पयदीक्षित की प्रसिद्ध व्याख्या के अतिरिक्त श्रीउचमुर ति0 वीरराघवाचार्य की संस्कृत में टिप्पणी और तमिल में अनुवाद भी प्रकाशित हो चुके हैं।

तृतीय-अध्याय

यादवाभ्युदय महाकाव्यगत रस मीमांसा

अध्याय-3

'यादवाभ्युदय महाकाव्यगत रस मीमांसा'

साहित्यजगत् में रस से तात्पर्य है-काव्य, नाटकादि के पठन, श्रवण या दर्शन से सहृदय के हृदय में उद्दीप्त तन्मयीभाव रूप आनन्द। यद्यपि यह आनन्द एक रूप ही हुआ करता है, किन्तु विभिन्न आलम्बनों का आश्रयण करने के कारण इसके अनेक भेद किये जाते हैं। आलम्बन भेद के कारण आश्रय में भिन्न-भिन्न प्रकार के भाव उत्पन्न होते हैं जिन्हें पढ़ने या देखने से सहृदय पाठक तथा दर्शक हृदय में अनेक प्रकार की आनन्दमयी अनुभूतियाँ हुआ करती हैं। इन्हीं अनुभूतियों को हम रस कहते हैं। पाठक या दर्शक की रूचि एवं योग्यता भेद के कारण रसानुभूति में भी मात्रा भेद देखा जाता है। एक ही दृश्य किसी को सुख, किसी को उदासीनता और किसी को दुःख (ग्लानि) दे सकता है। इसका उदाहरण सर्वत्र सुलभ है। आधुनिक चलचित्रों में नायिकाओं के नग्न प्रदर्शन को देखकर जहाँ तरूणवर्ग उछल पड़ता है वहीं प्रौढ़जन बीसवीं शदी की विडम्बना समझकर उदासीन हो जाते हैं और भारतीय संस्कृति से अनुराग रखने वाले वृद्ध जन कुढ़ कर रह जाते हैं। इस अनुभूति भेद का कारण रूचि-भिन्नता ही है।

रसों की संख्या के विषय में भी विद्वानों में मतभेद है। कुछ विद्वान शृङ्गार, हास्य, करूण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स और अद्भुत संज्ञक

आठ रस ही मानते है।[1] तो कुछ विद्वान शान्त को भी नवम नस के रूप में स्वीकार करते हैं।[2] आचार्य विश्वनाथ ने वात्सल्य को भी रस स्वीकार किया है।[3] भोज ने उक्त नवरसों के अतिरिक्त प्रेय, उदात्त तथा उद्धत रसों को भी स्वीकार किया है।

आचार्य वेदान्तदेशिक के मत में रस की स्थिति :

स:कवि: कथ्यते स्रष्टा रमता यत्र भारती ।

रस भावगुणीभूतैरलङ्कारैर्गुणोदयै:।।[4]

यादवाभ्युदय महाकाव्य के प्रस्तुत श्लोक से यह ज्ञात होता है कि आचार्य वेदान्त-देशिक के मत में रस, भाव, गुणीभूत व्यङ्गय, अलङ्कार एवं गुण से युक्त रचना करने में समर्थ व्यक्ति ही वस्तुत: कवि है। उक्त श्लोक से रसभावादियुक्त सरस्वती विहारास्पदीभूत चतुर्मुख (स्रष्टा) जिस प्रकार कवि संज्ञा से अभिहित होते हैं, ठीक उसी प्रकार उपर्युक्त रूप विशिष्ट कविताशाली ही कवि कहा जाता है - इत्यादि रूप उपमालङ्कार ध्वनित होकर काव्य में रसादि समुपलब्धि की प्रधानता सूचित करता है। यहाँ ध्यातव्य है कि वेदान्तदेशिक मात्र रस, ध्वनि, अलङ्कार या रीति आदि को ही काव्य में प्रधान नहीं मानते, अपितु इन सबके समन्वय से युक्त रचना को वे काव्य मानने के पक्ष में हैं।

---

1. श्रङ्गार हास्य करूण रौद्र वीर भयानका: ।
   वीभत्साद्भुत सज्ञौ चेष्प्रष्टौ नाट्यै रसा: स्मृता: ।। भ0ना0 6-15
2. निर्वेद स्थायिभावोऽस्ति शान्तोपि नवमो रस:। का0प्र0 4-35
3. स्फुटं चमत्कारितया वत्सलं च रसं विदु:।। सा0 दर्पण 3-251
4. यादवाभ्युदय - 1/5

ज्ञातव्य है कि वेदान्तदेशिक के समय तक भामह, दण्डी, उद्भट आदि का अलङ्कारवाद, वामन का रीतिवाद, कुन्तक का वक्रोक्तिवाद और आनन्दवर्धन का ध्वनिवाद साहित्याकाश में पूर्णरूपेण प्रतिष्ठित हो चुका था, परन्तु ये समस्त मत एकाङ्गी थे। इनमें से किसी एक मत को पूर्णतः मान्यता प्रदान करने में सर्वत्र लक्ष्यलक्षण समन्वय सम्भव नहीं था, अतः इन समस्त वादों में समन्वय स्थापित करते हुए रचना करने में समर्थ रचनाकार को ही वेदान्त देशिक ने कवि माना है।

अतः संक्षेप में यह कहा जाता सकता कि रसों की इयत्ता नहीं है, उनकी निश्चित संख्या देना कठिन है। तथापि संस्कृत साहित्य में प्राधान्येन नवरस स्वीकार किये जाते हैं।

वेदान्तदेशिक भी इसी मत के समर्थक थे। उन्होंने शान्तरस को सर्वश्रेष्ठ रस माना है। रस परिपूरित असंख्य श्लाकों को प्रस्तुत करके उनका विवेचन करना यहाँ सम्भव नहीं है। रसों के स्वरूप का भी विवेचन नहीं किया जा रहा है, क्योंकि लक्षण ग्रन्थों में इन पर विस्तृत विवेचन एवं निर्धारित स्वरूप सुलभ है, इसके अतिरिक्त यदि किसी को रस स्वरूप का ज्ञान न हो तो भी रसानुभूति तो उसे होती ही है। रस स्वरूप विवेचन मानसिक व्यायाम है और रसानुभूति हार्दिक परितोष है। अतः रसानुभूति के लिए सभी रसों के कतिपय स्थलों पर (विस्तार भय से) ही विचार किया जाएगा।

(i) **शान्त रस :**

यादवाभ्युदय महाकाव्य में श्रीकृष्ण द्वारा सामान्य बालक का रूप धारण कर लेने पर वसुदेव की दशा दर्शनीय है। वेद जिनके उच्छ्वास हैं, ऐसे श्रीकृष्ण के आननचन्द्र की चन्द्रिका से मुनि सदृश वसुदेव का मोहान्धकार दूर हो गया, वह तन्मय हो गये और अपलक नेत्रों से देखते रहे।[1]

यहां पर परब्रह्म कृष्ण आलम्बन विभाव तथा उनके मुख की कांति आदि उद्दीपन विभाव हैं। अपलक दर्शन आदि अनुभावों तथा जड़ता आदि संचारी भावों से अभिव्यक्त वसुदेव हृद्गत कृष्ण की अनन्य भक्ति से परिपुष्ट सहृदय निष्ठ शम स्थायी अमन्दानन्दस्वरूप शान्तरस के रूप में परिणति हो जाता है।

भगवान कृष्ण के दयितोपभोग (गोपियों के विहार) के विषय में वेदान्तदेशिक कहते हैं कि दिव्य पुरूष की यह लीला मुनियों द्वारा सर्वोत्कृष्ट रूप से ध्यान करने योग्य है। यह रागादि रोगों का निवारण करने वाली दिव्य औषधि है। इसके लिए किसी देश की प्रतीक्षा करने की आवश्यकता नहीं है। अपितु सभी दशाओं में इसका अनुभव करना चाहिए। इत्यादि द्वारा श्रृङ्गार रस के परिपोष के अनन्तर उसे अंग रूप में प्रकट

---

1 श्रुतिसुगन्धितदाननचन्द्रिकामुषित मोहतमा मुनिसन्निभः।
अधिजगाम सतन्मयतां क्षणादनिमिषत्वमुत प्रतिसनदवे।। यादवाभ्युद 3-27

करके शान्तरस को ही अंगी रूप में आचार्य वेदान्तदेशिक ने स्थान दिया है।[1]

(ii) शृङ्गार रस :

प्राय: सभी विद्वानों ने श्रृङ्गार को रसराज माना है। इसकी उपेक्षा करके किसी कवि का साहित्य-जगत् में लब्ध प्रतिष्ठ हो सकना सन्देहास्पद है। इसके दो भेद हैं- संभोग और विप्रलम्भ श्रृङ्गार। वेदान्तदेशिक के काव्यों में श्रृङ्गार के उदाहरण प्रचुर मात्रा में सुलभ हैं।

(क) सम्भोग शृङ्गार :

यद्यपि स्त्री-पुरूष के परस्पर अवलोकन, आलिंगन, अधरपान, परिचुम्बन आदि के अनन्त होने के कारण इनके असंख्य भेद हो सकते हैं, किन्तु सामान्येन इसे एक ही स्वीकार किया जा सकता है।[2] योग द्वारा भी प्रणयापराधी कृष्ण मृगनयनियों (गोपांगनाओं) के एक साथ प्रयुक्त अमोघ ईदाण शरों से वेध दिये गये।[3] इसी प्रकार रूक्मिणी ने भी कटाक्ष माला बांध दी मानो द्वितीय वैजयन्ती हो।[4] कृष्ण के पास अभिसरण करने वाली गोपियों की दशा भी द्रष्टव्य है। कृष्ण के गुण रूपी पास से खिंची हुई गोपियों ने अभिसरण में बाधक शब्द करने वाले वलयों को निकाल कर

---

1 रागादिरोगप्रतिकारभूतं रसायनं सर्वदशानुभाव्यम्।
आसीदनुध्येयतमं मुनीनां दिव्यस्य पुंसो दयितोपभोग:।। यादवाभ्युदय 4-101

2 तत्राय: परस्परावलौकनालिंगनाधरपानपरिचुम्बनाधनन्तत्वादपरिच्छैय एक रथ गण्यते। का0 प्र0 4-29 अनन्तर।

3 अविध्यतैक: प्रणयापराधी योगैरलक्ष्यो युगपत्प्रयुक्तै:।
आवर्जितभूधनुषाममोधैरेणीदृशामीक्षणचित्रपुंडै यादवाभ्युदय 8-80

4 तस्मिन् द्वितीयमिव वैजयन्ती सा च प्रिये साचिविशेषरम्याम्।
कटाक्षमाला निबन्ध कृष्णेव कामाधिके कौतुकमेदुराक्षी।। यादवाभ्युदय 13-6

कांची से रहित होकर कामोपदिष्ट महामार्ग से अपने प्रिय को प्राप्त करना चाहा।[1] इसमें कृष्ण के प्रति गोपियों का उत्कृष्ट राग दिखाया गया है। कृष्ण आलम्बन तथा उनके गुण, रात्रि, सूनापन आदि उद्दीपन विभाव हैं। वलय का परित्याग छिपकर अभिसरण अंगों का संकोचन आदि अनुभाव तथा औत्सुक्य, भय, ब्रीडा, चपलता आदि सञ्चारी भावों से परिपुष्ट गोपीगत रत्यारस भाव परिपुष्ट होकर श्रृङ्गार रस की चर्वणा करता है, जो कि सम्भोग रूप है।

(ख) विप्रलम्भ शृङ्गार :

विप्रलम्भ पांच प्रकार का माना गया है। 1. अभिलाष अथवा पूर्वराग, 2. विरह (अननुराग अथवा गुरू लज्जादिवश असंयोग), 3. ईर्ष्या अथवा मान, 4. प्रवास (अनुरक्त होने पर भी कार्यान्तर से दूर रहना), 5. शाप इसके हेतु होते हैं।

आचार्य वेदान्तदेशिक के काव्यों में मुख्यरूप से केवल प्रवास हेतुक विप्रलम्भ शृङ्गार रस की ही चर्वणा हुई है। यादवाभ्युदय में व्रज को छोड़कर मथुरा के लिए प्रस्थान करते समय गोपाङ्गनाओं की विरह दशा तथा विलाप का बहुत ही मार्मिक चित्रण किया गया है। बलराम और कृष्ण के प्रस्थान करते समय व्रजांगनाएं कुररी के समान चिल्लाने लगीं।[2]

---

1 अनिष्ट शब्दैर्वलयैरपोढ़ाः काञ्चयाप्यवज्ञातपदोगत्या।
गुणावकृष्टाः प्रियमाप्तुमीषुः कामोपदिष्टेन महापथेन।। यावाभ्युदय 8-56

2. व्रजतोरथ वल्लवस्त्रियो बलभद्रस्य जनार्दनस्य च।
अनुदुद्रुराशु वर्तनी कुररीकूजितसूचक स्वनाः।। यादवाभ्युदय 9-77

विरहारम्भ के विषाद से विह्वल होकर विलाप करने लगीं, वलय भूमि पर गिर पड़े, वे मुरझाई लताओं के समान हो गयीं।[1]

(iii) **वीर रस :**

वेदान्तदेशिक की कृतियों में वीर रस का परिपाक अनेक स्थलों पर हुआ है। मृगयाविहार के प्रसंग में बलभद्र द्वारा सिंहों के वध का वर्णन बड़ा ही ओजपूर्ण है। दृप्त एवं दुर्धर्ष बलभद्र ने मानव सिंहों की गर्जना को न सहने वाले पर्वतों का भी उल्लघंन कर जाने वाले सिंहों को गजराजों के समान मार डाला।[2]

इसमें तत्तदिवभावादिक से परिपुष्ट होकर बलभद्रगत उत्साहाख्य स्थायी भाव परिपुष्ट होकर वीररस की चर्वणा कराता है।

जाम्बवान् से कृष्ण के मल्लयुद्ध के प्रसंग में भी वीररस का परिपोष हुआ है।[3]

मधुहन्ता कृष्ण ने अरिष्ट चाणूर प्रभृति योद्धाओं में न देखे गये पराक्रम को जाम्बवान् में प्रकट करते हुए बहुत समय तक उस वीर से युद्ध किया।

(iv) **रौद्र रस :**

---

1. व्यलपन्निति बाष्पगदगदं विरहारम्भविषादिविह्वला:।
वलयै: प्रियवर्त्मपातिभि: क्षतपुष्पा एव धर्मवीरूध:।। यादवाभ्युदय 9-78
2. अमृष्यतो मानुषसिहनादं गिरीन्द्र रोधैरपि दुर्निरोधान्।
बभञ्ज दृप्तो बलभद्र सिंह: सिहान्द्विपेन्द्रानिव दुर्निवार:।। यादवाभ्युदय 05-22
3. अरिष्ट चाणुरमुखेष्वलक्षितं प्रदर्शयन् श्रक्षपते: पराक्रमम्।
चिरं ददौ युद्धमचिन्त्यचेष्टितो मनस्विनस्तस्य मधुप्रभजन:।। यादवाभ्युदय 14-11

उत्साह के उद्रेक के बाद किसी कर्म में प्रवृत्त होने पर यदि सामने कोई बाधक आ जाय तो क्रोध उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक है। यही क्रोध यदि कवि द्वारा सजा-संवार कर अपनी कृति में प्रकट किया जाता है तो उससे रौद्ररस का संचार होता है।

कृष्ण द्वारा इन्द्र की पूजा रोक देने पर इन्द्र के नेत्र अंगारे उगलने लगे, वज्र लिए हुए बहुरंगी धनुष धारण करके मेघ पर चढ़े हुए इन्द्र खेलते हुए शरीर धारी काल के समान दिखायी पड़े।[1] यही नहीं, भीषण गर्जना करने वाले तथा विद्युर्त्तजनी से डराने वाले मेघ अपने भीमरव द्वारा इन्द्र की आज्ञा न मानने वालों (गोपों) को बार-बार धमकी देने लगे।[2]

उपर्युक्त श्लोकों को पढ़ने से गोपों के प्रति इन्द्र और उनके सहायक मेघों में प्रदीप्त क्रोधाग्नि से पाठक के हृदय में रौद्ररस की अभिव्यंजना होने लगती है।

युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में कृष्ण की पूजा किये जाने से अपना अपमान समझकर शिशुपाल क्रुद्ध हो गया है। वह बिजली के समान चमकने लगा, इन्द्र धनुष के समान रंग विरंगा सुन्दर धनुष लेकर प्रलय मेघ के समान भयंकर नाद करते हुए कृष्ण पर बाणों से वर्षा करने लगा।[3]

---

1. तटित्सहस्त्रेण प्रदीप्तनेत्रः समेतवज्रौ धृतचित्रवापः।
अतकर्यतेन्द्रः स्वयभ्रवाहः कालात्मना भुमिकयेव खैलन्।। यादवाभ्युदय 7-16
2. सुतीव्रहुंकारभृतो निनादैः सौदामनीदर्शिततर्जनीकाः।
मरूत्वदाज्ञाविमुखानभीक्ष्णं निर्भत्सयामासुरिवाम्बुवाहाः।। यादवाभ्युदय 7-21
3. अचिरद्युतिभास्वराऽथ चैद्यः पुरुहूतायुर्धचारुचित्रचापः।

इसी प्रकार कृष्ण बाणासुर युद्ध में क्रुद्ध बाणासुर द्वारा सहस्त्र संख्यक करों से पांच सौ वाणों की एक साथ वर्षा करते हुए आगे आने वाले यदुवीरों को आहत कर देने का प्रकरण भी रौद्र रस की उद्भावना करता है।[1]

यादवाभ्युदय में युद्धादि के अनेक स्थल आये हैं, जहां से रौद्र रस के एक-से-एक सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

(v) भयानक रस

कृष्ण द्वारा पूजा रोक दिये जाने के कारण क्रुद्ध होकर इन्द्र ने व्रज को डुबा देने के लिए मेघों को आदेश दिया। मेघ व्रज को डुबाने के लिए अजस्र वर्षा करने लगे। जाज्वल्यमान तडित समूह के कारण मेघों की ओर देखा नहीं जा सकता था, इन्द्र का धनुष धारण किए हुए धाराशर समूह की वर्षा करने वाले मेघों के कर्णभेदी गर्जनाओं को ब्रजवासी न सहन कर सके।[2] ब्रजांगनाओं की दशा तो और भी विचित्र हो गयी थी। वे अपने स्तनों पर स्वस्तिक बनाकर हाथों को रखे हुए थीं। भीगे केशकलाप को बांधे हुए थीं, मुखकमल को नीचे झुकाये थीं, उनके वस्त्र शरीर में चिपक गये थे, दांत कटकटा रहे थे, बेचारी बैठी थीं।[3] यही नहीं, इन्द्र के वज्र और धनुष से युक्त पुरवा हवा से उमड़ती हुई काल

प्रलयस्तनयित्न भीमनादः शरवर्षेणमुकुन्दमभ्यवर्षत्।। यादवाभ्युदय 15-119

1. शरासनैरर्धसहस्रसंख्यैः योद्धुं प्रवृत्तो युगपत्प्रकृष्टैः।
प्रतिद्रुतान् प्रार्दयन् प्रकुप्यम् एकस्समस्तानपि यादवाग्रयान्।। यादवाभ्युदय 20-37
2. यादवाभ्युदय 7-28
3. यादवाभ्युदय 7-30

की असिता केतुमाला के समान काली मेघश्रेणी को देखकर लोग कांप गये।[1]

मेघ द्वारा की जा रही भीषण वर्षा की कल्पना करने से भय का संचार होने लगता है तो वेदान्तदेशिक द्वारा चित्रित वर्णन को पढ़ने से भयानक रस की चर्वणा क्यों न होने लगे? इसी प्रकार उक्त प्रकरण में अनेक श्लोक हैं, जिनमें भयानक रस परिपुष्ट होता है।

अरिष्टासुर आकर अपने सुरों से ब्रजभूमि को विदीर्ण करने लगा, सीगों से आकाश को विक्षुब्ध करने लगा। उसकी सींगों के प्रहार से टूटे हुए शकटों को छोड़कर अन्य बल इधर-उधर भाग गये, सम्पूर्ण गोपगण इस उपद्रव से घबड़ा गये।[2] इत्यादि वर्णनों से भी भयानक रस का परिपोष हुआ है।

बाणासुर के साथ हो रहे युद्ध में जब कृष्ण ने बाणों की वर्षा प्रारम्भ की तो सम्पूर्ण प्रमथगण अपनी लम्बी लम्बी डीगों को बिल्कुल भुलाकर वहां से भागे। उन्हें देखकर पशुपति (शिव) ने पशु ही समझा।[3]

यही नहीं, बलराम जब रथों को उठा-उठाकर अन्तरिक्ष में फेंकने लगे तो देवों ने समझा कि असुरों की सेना चली आ रही है अतः उन्होंने अमरावती के द्वारों को बन्द करके अर्गला लगा दी।[4]

---

1. यादवाभ्युदय 7-36
2. यादवाभ्युदय 8-117,118
3. शिलीमुखैश्शोरिधनुर्विमुक्तैः विस्मारितान् पूर्वकवित्यनानि।
 पलायमानान् प्रमथानशेषान् मेने पशुनेव पतिः पशुनाम्।। यादवाभ्युदय 20-30
4. हलायुधोत्क्षिप्तरथौघपूर्ण समीक्ष्य देवास्सहसाऽन्तरिक्षम्।

इसी प्रकार यादवाभ्युदय में अनेक स्थलों पर भयानक रस के उदाहरण मिलते हैं।

(vi) अद्भुत रस

कृष्ण का पूरा चरित ही अद्भुत रहा है, विशेषकर उनकी बाललीलायें बहुत विस्मयाबह रही हैं। फिर उन चरितों के वर्णन या पठन से अद्भुत रस का स्फुरण क्यों न होगा? कृष्ण के जन्म के बाद का ही वृत्त देखिये। कृष्ण का आदेश पाकर उन्हें लेकर वसुदेव नन्द के घर जाने के लिए तत्पर हुए तो द्वार बन्द थे। वे किंकर्तव्यमूढ़ होकर खड़े हो गये। एकाएक कपाट खुल गये, रक्षक प्रस्तरवत् पड़े रहे, गृह देवताओं ने मार्ग निर्देश किया।[1] इत्यादि वर्णन अद्भुत रस का संचार करते हैं।

इसी प्रकार पूतनावध, यमलार्जुन मोक्ष आदि समस्त लीलायें अद्भुतरसवाहिनी हैं। कृष्ण का गोवर्द्धन धारण तो साकार अद्भुत रस ही प्रतीत होता है। बालरूप कृष्ण को गोवर्द्धन उठाये हुए देखकर सभी गोप आश्चर्य में पड़ गये।[2] तो उस को पढ़कर दूसरों को आश्चर्य क्यों न हो?

(vii) वीभत्स रस

आशङ्कयदैतेबलोपयानं दृढार्गला देवपुरीमकुर्वन्।। यादवाभ्युदय 20-44

1. यादवाभ्युदय 3-29-30
2. यादवाभ्युदय 7-53

बाणासुर से युद्ध-काल में बलराम ने अपने हल से बड़े-बड़े गजों को पीसकर युद्ध-भूमि को रक्त और मांस के कीचड़ से भर दिया, जिसमें रथ फंस जाने के कारण रुक जाते थे।[1]

इसी प्रकार सात्यकि के दिग्विजय काल में तुलुवों के कटे हुए अंगों से व्याप्त रणस्थली ऐसी प्रतीत होती थी मानो स्थूल कूर्म पड़े हों।[2]

इसी प्रकार युद्ध-क्षेत्र में रक्त, मांस, क्षतविक्षत अंग आदि का वर्णन पढ़ने से घृणा-सी होने लगती है। यही घृणा काव्य द्वारा परिपुष्ट होकर वीभत्स रस का रूप धारण कर लेती है।

(viii) **करूण रस :**

करूण रसोत्थापक प्रसंग वेदान्तदेशिक की कृतियों में विशेष नहीं आये हैं। कंस द्वारा कृष्ण को मथुरा बुला लेने पर व्रजांगनाओं का बहुत मर्मस्पर्शी विलाप हुआ है, किन्तु उसे करूणरस के उदाहरण के रूप में नहीं रखा जा सकता है। यद्यपि कृष्ण और व्रजांगनाओं का मिलन फिर नहीं होता है, किन्तु गोपांगनाओं को सदैव यह आशा लगी रहती है कि कृष्ण जीवित हैं और अवश्य आयेंगे। अतः इसे विप्रलम्भ शृङ्गार के ही अन्तर्गत रखेंगे।

सात्यकि द्वारा विजित और मारे गये राजाओं की पत्नियों के रोदन से करूणारस की चर्वणा होती है। यदुवीरों के खड्गों ने अपने निर्माण काल में पिये हुए जल और अग्नि को शत्रुओं की पत्नियों के नयनों और चित्तों

---

1. यादवाभ्युदय 20-43
2. यादवाभ्युदय 22-211

में रख दिया।[1] कहने का तात्पर्य यह कि पति के मरने के कारण शत्रुपत्नियां सदैव रोया करती थीं और उनका चित्त दुःखाग्नि से जला करता था।

और भी द्रष्टव्य है- धनुर्धर सात्यकि के मेघ रहित विद्युत के समान बाण हूण स्त्रियों की अश्रुवर्षा के कारण बने।[2] अर्थात् बाणों से हूणों का वध होने के कारण उनकी पत्नियां रोती रहती थीं।

इन पतिबधजन्य अश्रुपातों से करुणरस का परिपोष होता है।

भाव :

रस, भाव, रसाभाव, भावाभास, भावसन्धि, भावशबलता और भाव प्रशम आस्वादित होने के कारण रस कहे जाते हैं। वस्तुतः रसाभास भी रस ही है और भावाभासादि भाव ही हैं, अतः केवल भाव का ही विवेचन किया जायेगा। उसी के अन्य भेदों की बोधकता भी चरितार्थ हो जायेगी।

देवादि विषयक रति और प्रधानरूप से प्रतीयमान संचारी भाव कहे जाते हैं।[3]

---

1. नियतं हेतयस्तेषां निपीते वह्निवारिणी,
   निदयुश्शत्रुनारीणां चित्तेषु नयनेषु च।। यादवाभ्युदय 22-87
2. अनभ्रविद्युत्प्रतिमास्सायकास्तस्य धन्विनः।
   अभवन् हूण नारीणामश्रुवर्षपुरस्सराः।। यादवाभ्युदय 22-105
3. रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथांजितः।
   भावः प्रोक्तः ।। का० प्र० 4-35

वेदान्तदेशिक कृष्ण और राम को साक्षात् परब्रह्म ही मानते हैं जो कि धर्मरक्षणार्थ अवतरित हुए हैं। अतः स्थान-स्थान पर उनकी स्तुति आदि भाव को ही पुष्ट करते हैं।

संसार मरूस्थल में गमनागमन से थके हुए प्राणियों के लिए तुम्हारी भक्ति-सुधा नदी में अवगाहन ही (श्रान्त्यपनोदन का) उपाय बताया गया है।[1] इस देवस्तुति से तथा भगवान् को देखकर देवों ने नेत्रों का फल प्राप्त किया।[2] इत्यादि वर्णन द्वारा भगवान् विष्णु के प्रति रतिभाव पुष्ट होता है। अतः यहां भाव है।

इसी प्रकार वसुदेव, इन्द्र, अक्रूर आदि द्वारा किये गये कृष्ण स्तवन में भाव का सुन्दर परिपोष हुआ है।

---

1. संसारमरुकान्तारे परिश्रान्तस्य दोहिनः।
   त्वद्भक्त्यमृतवाहिन्यामादिष्टमवगाहनम्।। यादवा0 1-53
2. अवेक्ष्य विवुधा देवमलमन्त दृशोः फलम्।। या0 1-75

चतुर्थ-अध्याय

यादवाभ्युदय महाकाव्य में अलङ्कार

'यादवाभ्युदय महाकाव्य में अलङ्कार'

वेदान्तदेशिक ने यादवाभ्युदय महाकाव्य में काव्यत्व के सभी पक्षों में संतुलन रखते हुये उसके विविध अङ्ड़ो को सजाया -संवारा है। रस और भाव की सहज अभिव्यक्ति के बाद अलंकार उनके काव्य में सर्वत्र शब्द और अर्थ की सौन्दर्य वृद्धि कर रहे हैं।

''अलंकरोति इति अलंकार:'' यह अलंकार शब्द की व्युपत्ति है। अर्थात् शरीर को विभूतित करने वाले अर्थ या तत्त्व का नाम अलंकार है। जिस प्रकार कटक, कुण्डल आदि आभूषण शरीर को विभूषित करते हैं इसलिये अलंकार कहलाते हैं। उसी प्रकार काव्य में अनुप्रास, उपमा आदि काव्य के शरीरभूत शब्द और अर्थ को अलंकृत करते हैं, इसलिये अलंकार कहलाते हैं-(काव्यप्रकाश)। काव्य प्रकाश में ही अलंकार परिभाषित करते हुये कहा गया है-जिस प्रकार हारादि आभूषण तत्तदङ्गों को अलंकृत करते हुये शरीरधारिणी व्यक्ति (आत्मा) का भी उत्कर्ष बढ़ाते हैं, उसी प्रकार शब्द और अर्थ की शोभा बढ़ाते हुये अनुप्रासोपमादि अलंकार काव्य (रस) के भी उपकारक होते हैं।

उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।

हारादिवदलङ्करास्तेऽनुप्रासोपमादय:।।

कवि ने उपर्युक्त परिभाषाओं को काव्य में पूरी तरह अङ्गीकार किया है। उन्हें जो अलंकार रस के अनुकूल प्रतीत हुये हैं,उसका प्रयोग

उन्होंने बहुलता से किया है। अर्थालङ्कार तो उनके काव्य में प्रचुरता से उपलब्ध है,परन्तु शब्दालङ्कार के प्रयोग में कवि का संकोच जान पड़ता है। यादवाभ्युदय के षष्ठ सर्ग में अनेक प्रकार के यमकों तथा चित्रालङ्कारों का प्रयोग करके कवि ने अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन किया, परन्तु इसके बाद इन अलङ्कारों की तरफ से उन्होंने मुंह मोड़ लिया। श्लेष अलंकार की चमत्कारिक शक्ति का प्रयोग करते हुये कवि ने अपनी सामर्थ्य को प्रकट किया। साथ ही यह भी कि यह उनका सबसे प्रिय साधन है।

वेदान्तदेशिक विरचित महाकाव्य में भाषा-भाव का अनुसरण करते हुये स्वतः प्रकटीभूत हो रही है। अलंकार भाव समृद्ध भाषा का पोषण कर रहे हैं। भाव के अनुरूप कठोर, कोमल व मध्यम कोटि के पदों का प्रयोग काव्य में निपुणता से किया गया है। अति कठिन सन्दर्भ व रूपसमस्त पदों के प्रयोग में सिद्धहस्त कवि कहीं भी पदों को बोझिल नहीं होने देते।

यादवाभ्युदय में कवि की अलंकारिक शैली का प्रदर्शन खूब हुआ है। अर्थालंकारों में उपमा और उत्प्रेक्षालंकार का बहुधा प्रयोग मिलता है। काव्यलिङ्ग को भी अन्य अलंकारों से अधिक महत्वपूर्ण समझा गया है अतिशयोक्तिपूर्ण श्लोकों की भी कमी नहीं है। वस्तुतः वेदान्तदेशिक के काव्यों में अलंकारों का भण्डार भरा पड़ा है। उन सब का विवेचन कर सकना तो इस अध्याय में सर्वथा असम्भव है, अतएव प्रमुख अलंकारों के कतिपय उदाहरणों से ही सन्तोष कर लिया जायेगा। प्रस्तुत अध्याय में

सर्वप्रथम संख्या में कम होने के कारण शब्दालंकारों का विवेचन किया जायगा। काव्य में अर्थालंकारों का महत्वपूर्ण स्थान होने के कारण उन पर संक्षिप्त विचार कर लेने के अनन्तर ही चित्रालंकारों को स्थान दिया जाएगा। अलंकारों का विवेचन करते समय आचार्य मम्मट द्वारा प्रतिपादित लक्षणों को ही आधार बनाया गया है।

खण्ड(1)–शब्दालंकार

शब्दालंकार जैसा कि नाम से ही विदित है शब्दमुखेन रस का उत्कर्ष करते है। यदि कहीं रस नहीं रहता है तो उक्तिवैचित्र्य मात्र में उनका पर्यवसान होता है। कहीं-कहीं रसादि के रहने पर भी अलंकार उसके उपकारक नहीं होते हैं, जैसे कि ग्राम्य आभूषण अति सुकुमार नायिका के अंगों की शोभा नहीं बढ़ाते हैं।

इस प्रकार अलंकारों का संक्षिप्त परिचय प्राप्त कर लेने के अनन्तर वेदान्तदेशिक के काव्यों में उनके कुछ उदाहरणों पर विचार किया जाएगा।

(i) अनुप्रास

वर्णो की समता को अनुप्रास कहते हैं।[1] वर्ण की समता से तात्पर्य है, स्वर-भेद होने पर भी किसी वर्ण (व्यंजक) की सदृशता (आवृत्ति)। वर्णो की यह आवृत्तिशब्द के आदि में, अन्त में या मध्य में भी हो सकती है। अनुप्रास अलंकार के दो प्रमुख भेद हैं-- छेकानुप्रास और

---

1. वर्णसाम्यमनुप्रासः। का0 प्र0 9–79

वृत्यनुप्रास। अनेक व्यंजनों की एक बार आवृत्ति को छेकानुप्रास तथा एक ही व्यंजन की अनेक बार आवृत्ति को वृत्यनुप्रास कहते हैं।[1]

छेकानुप्रास में व्यंजनों की सकृदावृत्ति होने के कारण उतना अधिक चमत्कारित्त्व नहीं आता हैं, जितना कि वृत्यनुप्रास में आता है।

नम्यस्य नयतः क्षुद्रानं वरदस्य वरार्थिनः।

पुत्रैःपितृमतः क्रीडा कथं तै केन वर्ण्यते।।या0 1-48

इत्यादि श्लोक में न, व, प, क,त व्यंजनों की सकृत् आवृत्ति के कारण छेकानुप्रास प्रयुक्त हुआ है। इसके पूर्व श्लोक में भी छेकानुप्रास की छटा दर्शनीय है।

अमितस्य महिम्नस्ते प्रयातं पारमिच्छताम्।

वितथा वेदपान्थानां यत्र सायं गृहागति।। या0 1-47

इसमें म, त, प, व, थ, य व्यंजनों की सकृत् आवृत्ति हुई है।

इस प्रकार छेकानुप्रास के तो असंख्य उदाहरण भरे पड़े हैं। अतः दिग्दर्शन मात्र से सन्तोष कर वृत्यनुप्रास के कतिपय उदाहरणों को देखा जाएगा।

यद्यपि इन अलंकारों के चार-छः उदाहरण तो उनके ग्रन्थों के आदि भाग से ही दिये जा सकते हैं, किन्तु सम्पूर्ण ग्रन्थ में यत्र-तत्र उनका दिग्दर्शन ही वास्तविक दिग्दर्शन होगा। अतः काव्यों के मध्य और अन्त भागों से भी उदाहरण लिए जायेंगे।

---

1. सोऽनेकस्य सकृत्पूर्वः एकस्याप्यसकृत्परः। का0 प्र0 9-79

इहमरुतोवहन्ति सुरसिन्धुसगन्धसरिदिकसितहेमकोकनदसौरमसारभृत:।

मधुकरमौलिकदघ्नमददन्तुरदन्तिघटाकरटक्टाहवाहिघनशीकरशीमरिता:।।[1]

इत्यादि श्लोक के पूर्वार्द्ध में स एवं उत्तरार्द्ध में म, द और ट व्यंजनों की असकृत् आवृत्ति हुई है अत: वृत्यनुप्रास अलंकार है। इसी प्रकार--

वन्देवृन्दावनचरं वल्लवीजनवल्लभम्।

जयन्ती संम्भव धाम वैजयन्ती विभूषणम्।। या01-1

तथा देवानिवाहूतान्नरदेवानमाषत। देवदानव सामान्यदैवतं देवकीसुत:।।

(या0 22-1) में क्रमश: व और द की असकृत् आवृत्ति होने के कारण वृत्यनुप्रास है।

इस प्रकार अनुप्रास के प्रयोग में वेदान्तदेशिक पूर्णतया सिद्धहस्त प्रतीत होते हैं, क्योंकि इन स्थलों में न तो मात्रावबोधकता में कमी आयी है और न रसानुभुति में ही बाधा होती है। अत: यह कहा जाएगा कि अनुप्रास के प्रयोग से आलोच्य काव्य उपकृत हुए हैं।

(ii) यमक

ज्हां अर्थ रहते हुए भी भिन्न अर्थ वाले वे ही वर्ण फिर से उसी तरह सुनायी पड़ें, वहां यमक अलंकार होता है।[2]

---

1. यादवाभ्युदय 6-43
2. अर्थौसत्यर्थभिन्नानां वर्णानां सा पुन: श्रुति:। यमकम्।। का0प्र0 9-83

वेदान्तदेशिक ने यादवाभ्युदय के षष्ठ सर्ग में यमक का प्रयोग करने में अपने प्रावीण्यातिशय का परिचय दिया है। उन्होंने अनेक प्रकार के यमकों के प्रयोग से काव्य के प्रवाह को भी रोक दिया है। अन्यत्र यमक का प्रयोग उन्होंने न के बराबर किया है, यदि कहीं स्वयं आ गया है तो उसे निकालने का प्रयत्न भी उन्होंने नहीं किया है, किन्तु यमक दिखाने के लिए उसका प्रयोग नहीं ही हुआ है यह दृढ़ता के साथ कहा जा सकता है। इसी आधार पर पूर्व में कहा जा चुका है कि काव्य में यमक के प्रयोग के प्रति उनकी अरुचि सूचित होती है।

पाद, पादांश, अर्धश्लोक और श्लोक की आवृत्ति के कारण इसके अनेक भेद हो जाते हैं।[1] कभी प्रथमपाद द्वितीयादि किन्हीं पादों में, द्वितीय पाद तृतीयादि पादों में, तृतीय पाद चतुर्थ पाद में अथवा प्रथम अन्य तीनों पादों में आवृत्त होता है। कभी प्रथम पाद चतुर्थ में और द्वितीय पाद तृतीय में आवृत्त होता है। इसी प्रकार पाद भी द्विधा विभक्त होकर विभिन्न रूपों में आवृत्त हुआ करता है। मम्मटाचार्य के शब्दों में यह काव्य के अन्दर गांठ के समान (गडुभुत) है। अतः इसके भेद और लक्षण न करना ही उपयुक्त होगा।[2]

यादवाभ्युदय के षष्ठ सर्ग का प्रारम्भ वेदान्तदेशिक पादांश यमक से करते हैं। इसे पढ़ने से लगता है कि कालिदास के रघुवंश के नवम सर्ग का ही यह कोई अंश हो।

---

1. 'पादतद्भागवृत्ति तद्यात्यनेकताम्' का0प्र0 9-83
2. तदेतत्काव्यान्तर्गडुभुतम् इति नास्यभेदलक्षणं कृतम्।। का0प्र0 9-83

केवल चतुर्थ पाद के अंशों में ही यमक के अनेक श्लोक उन्होंने प्रस्तुत किये हैं-जैसे-

शमयता पुरुहूत महोत्सवं व्रजपति:सहवल्लवयूथपै:।

निभृतमंजुगिरा निजसूमुना निजगदे जगदेककुटुम्बिना।।

--यादवा0 6-1

और भी द्रष्टव्य है-

अतियजैत निजां यदि देवतामुमयतश्च्यवते जुषतेख्यघम्।

क्षितिभृतैव सदैवतका वयं वनवतानवता किमहिदुहा।।

-यावबा0 6-4

उपर्युक्त श्लोकों में चतुर्थ पादों में क्रमश: 'जगदे' और 'नवता' वर्ण समुदाय की आवृत्ति हुई है अत: इसे एक पादांश यमक कहेंगे।

कभी-कभी एक श्लोक के अनेक पादों में उसके अंशों की अलग-अलग आवृत्ति हुआ करती है, जैसे-

समरुता मरुतापजितामुना नदवता दवतान्ति दवीय सा।

श्रमहता महता कृतविश्रमा वयमितो यमितोल्वणशाववरा:।।या06-1

इस श्लोक के चारों पदों में क्रमश: 'मरुता', 'दवता', 'महता' और 'यमितो' वर्ण समूहों की आवृत्ति हुई है।

द्वितीय पाद के व्यंजनों की चतुर्थ पाद में आवृत्ति अधोलिखित श्लोक में देखी जा सकती है-

निशाकरस्य स्फटिकेष्विहाधिकं सुजातरूपा श्रयतो विभासिता।

रविप्रभात स्पृशतीवसांध्यतां सुजातरुपाश्रयतो विभासिता।।

-यादवा06-24

इस प्रकार के यमक को सन्दष्टक कहते है।

श्रृंखला यमक के लिए अधोलिखित श्लोक द्रष्टव्य है। इसमें प्रथम पाद का उत्तरांश द्वितीय पाद के आदि में, द्वितीय का उत्तरांश तृतीय के आदि मेंप्रयुक्त हैं। यह भी अवधेय है कि चतुर्थ पाद का उत्तरांश प्रथम पाद के आदि में आवृत्त हुआ है। इस प्रकार एक श्रृंखला -सी बन जाती है। जैसे-

तम्यतेह नियता विभूतये भूतयेश्वरतया विराजते।

राजतेद्वशतटी महीयसे हीयसेना यदि नामनम्यते।।

-यादवाम्युदय 6-22

पादचतुष्टयान्त यमक की छटा-

मधुना सविभाव सन्तं मदनथनं यं वदन्ति शुभदिवसं तम्।

नियतमिहैव बसन्तं निष्कामधियोऽपि निर्विशन्ति वसन्तम्।।

-यादवाम्युदय 6-31

इत्यादि श्लोक में दीख पड़ती है। इसके चारों पादों के अन्त में 'बसन्तम्' वर्ण समूह की आवृत्ति हुई है। यमक में ऐसे श्लोक भी प्रयुक्त किये

जाते हैं जिनमें एक वर्ण समूह की एक ही पाद में असकृत आवृत्ति की जाती है। जैसे- यादवाम्युदय का अधोलिखित श्लोक-

यमभिप्लुतमम्बुरैरमितः सरसा सरसास रसा सरसा।

स्थिरधर्मतया गिरिराद्रियते स मया समयासम या समया।।

-यादवाभ्युदय 6-38

इसी प्रकार- प्रणमतमिमचलममरमहितमहितमीहत महित।

भजनमलधुविफलमिह न सदयसदय सदय सदय।।

-यादवाम्युदय 6-39

इत्यादि श्लोक में भी वर्णसमूहों की तीन बार आवृत्ति हुई है।

'श्लोकावृत्ति' यमक भी यमक का एक भेद है। जब एक क्रिया से अन्वित होने के कारण एक श्लोक में प्रयुक्त व्यंजन समूह की पुनरावृत्ति होती हैतो श्लोकावृत्ति यमक अलंकार होता है अभ्रान्तमतिशय्येह विराजिततमागमे। निशामयालीनघनं सालोघमतिननदनम्।। उपर्युक्त दोनों श्लोक 'निशामय' (एक) क्रिया से अन्वित हुए हैं और प्रथम श्लोक के अक्षरसमूह दूसरे श्लोक में आवृत्त हुए हैं। प्रथम श्लोक के 'सालोघ' के स्थान पर द्वितीय श्लोक में 'सारौघ' शब्द का प्रयोग किया गया हैं साहित्यिक लोग यमकादिप्रयोग के लिए 'र', 'ल' में अभेद मानते हैं इसी तरह 'हल' और 'शस' में भी अभेद माना जाता है।

जहां श्लोक केचारों पादों में 'समान वर्णसमूह प्रयुक्त होते हैं वहां महायमक अलंकार होता है, जैसे यादवाभ्युदय के अधोलिखित श्लोक'-

सानुमानयमतीततारकः सानुमानयमतीततारकः।

सानुमानयमतीततारकः सानुमानयमतीततारकः।।

-यादवाभ्युदय 6-106

और-

विराजमानादसमान भूमाविराजमानादसमानभूमा।

विराजमानादसमानभूमा विराजमानादसमानभूमा।। -यादवा06-107

इनमें चारों पादों में एक वर्ण समूह की ही आवृत्ति हुई है। उल्लिखित विभिन्न प्रकारों के अतिरिक्त अल्पाधिक भेद के साथ विविध श्लोकों में वेदान्तदेशिक ने यमक का प्रयोग किया है।

(iii) श्लेष

अर्थभेद के कारण भिन्न शब्द जब सहोच्चारण (एकोच्चारण) के विषय होकर शिलष्ट होते हैं (भिन्न स्वरूप छिप जाता है और एक ही स्वरूप भासित होता है) तो श्लेष अलंकार होता है।[1]

श्लेष के अनेक सुन्दर स्थल वेदान्तदेशिक के काव्यों में मिलते हैं।

---

1. वाच्यभेदेन भिन्ना यद् युगपद्भाषणस्पृशः।
शिलष्यन्ति शब्दाः श्लोषोऽसावक्षरादिभिरष्टधा।। का0प्र0 9-84

कन्याव्रत का अनुष्ठान करने वाली गोपबालाओं पर कृष्ण द्वारा कृपा किये जाने के प्रसंग में वेदान्तदेशिक कहते हैं कि-कर्मादिबन्धनरहित लीला करने वाले अनुरागवाम् गण्डस्थल पर पसीने की बूदों से युक्त कृष्ण कर कमल से सम्मानित गोपबालाओं के मध्य उसी प्रकार सुशोभितहुए, जैसे मदाधिक्य के कारण स्वैच्छाचारी भीगे गण्डस्थल वाला गजराज शुण्डाग्र से उपलालित करिणियों के मध्य सुशोभित होता है।[1]

प्रस्तुत श्लोक के अधिकांश पदों का एक बार ही उच्चारण हुआ है, किन्तु अर्थ करते समय उनका दो बार कथन करके भिन्न-भिन्न अर्थ निकाला जाता है। अतः यहां श्लेष अलंकार है।

पूजा न होने के कारण रुष्ट इन्द्र द्वारा आदिष्ट मेघों से व्रज के घिर जाने पर मृदंगनाद के समान गम्भीर गर्जन से युक्त विद्युत की चमक से प्रकटित सुन्दर नृत्य सहित नये जल को उत्पन्न करने वाला आकाश नव रसों की उद्भावना करने वाले कामनट के रंगस्थल के समान प्रतीत हुआ।[2]

इसमें 'नवानां प्रभवोरसानां' पद शिलष्ट है। आकाशपक्ष में 'नवानां रसानाम्' का अर्थ 'नया जल' और रंग पक्ष में नवरस किया गया है, किन्तु वे सहोच्चरित शब्द है। अतः श्लेष का लक्षण समन्वित है।

---

1. अयन्त्रिस्वैरगतिरस तासां सम्मावितानां कर पुष्करेण।
प्रस्विन्नगण्डः प्रणयी चकाशे मध्ये वशानामित्र वारणेन्द्रः।। याद0 4-62
2. मृदंगधीरसत्नितोविहायाः सौदामिनी समृतचारुलास्यः।
बभौनवाना प्रभवो रसानां रतिप्रियसयैव नटस्यरंगः।। या05-44

इसी प्रकार सात्यकि द्वारा राजाओं के विजित होने के प्रसंग में भी श्लेष द्रष्टव्य है। सात्यकि ने प्रतापाग्नि को आगे करके समुद्र बसना पृथ्वी के वेलावलय युक्त कर (बलि, हाथ) को ग्रहण किया।[1]

इसमें कर पद में श्लिष्ट होने के कारण द्वितीय अर्थ की प्रतीति होती है। विवाहाग्नि के समक्ष परिणीता कन्या के कंकणयुक्त पाणि के समान उन्होंने कर ग्रहण किया इत्यादि भाव प्रकट होता है।

खण्ड (2)-अर्थालङ्कार

यदि यह कहा जाय कि वेदान्तदेशिक के काव्यों में असंख्य अर्थालंकार प्रयुक्त हुए हैं तो अत्युक्ति न होगा, क्योंकि अर्थालंकार परिगणित होने पर भी कितनी बार प्रयुक्त है, एक ही श्लोक में कितने अलंकारों का संकर या संसृष्टि है इत्यादि का ध्यान रखते हुए उनकी निश्चित संख्या देना असम्भव हैं जिन स्थलों पर सामान्य जनों को अलंकारभाव या स्फुटप्रतीयमान दो-एक अलंकार ही दीखते हैं वहीं विदग्धजन अपनी काव्यविलासिनी प्रतिभा द्वारा अलंकारों का बाहुल्य प्रकटकर देते हैं। अतः समस्त अलंकारों का चित्रण असम्भव मानकर कतिपय प्रसिद्ध अलंकारों के कुछ उदाहरणों का दिग्दर्शनमात्र प्रस्तुत किया जा रहा है।

---

1 प्रतापाग्निं पुरस्कृत्य मुवरसागरवाससः
वैलावलयसम्पननं करं जग्राह तत्र सः।। या0 22-148

(i) उपमा

आचार्यमम्मट ने उपमेय और उपमान में भेद रहने पर भी किसी समान धर्म की उपस्थिति को उपमा कहा है। उनका लक्षण ही यही है कि भेद में सादृश्य उपमा है।[1]

सहृदयजन निर्दोष मार्ग में प्रवृत्त रहने वाली कही प्रमाद दिखाती हुई नर्तकी के समान कविता को बुरा नहीं मानते हैं।[2] यहां पर नर्तकी और कविता में भेद होने पर भी अनथमार्ग में प्रवृत्ति एवं क्वाचित्क प्रमाद रूप सादृश्य के कारण उपमालंकार है।

गर्भिणी देवकी की उपमा ऐन्दवी कला से देते हुए कवि कहता है-

कृशोदरी तारकयाभिनन्था केनापि धाम्ना कृतवृद्धियोगा।

अतीत्यकार्श्य क्रमशः प्रपेदे परामभिख्यां तनुरेन्दवीव।। -यादवा0 2-28

उपर्युक्त उदाहरण श्रौती उपमाओं के हैं। आर्थी उपमा का उदाहरण कृष्ण के मृगया वर्णन में दर्शनीय है। वन के सिंह मृगों के समान आचरण करने लगे और गोकुल के कुत्ते सिंह के समान आचरण करने लगे।[3]

कृष्ण गोपियों के बीच में मयूरपिच्छ की माला से दानराजि सूचित करते हुए और तीव्र श्रृंगी की ध्वनि करते हुए करिणियों के मध्य गजराज के समान सुशोभित हुए।[4]

---

1. साधमर्यमुपमा भेदे।--का0प्र0 10-125
2. प्रवृत्तामनथे मार्गे प्रमायन्तीमपि क्वचित्।
   नवाचमवमन्यन्ते नर्तकीमिव भावुका:।। यादवा0 1-7
3. मृगायितं तत्रमृगेन्द्रमुख्यैः सिहायितं गोकुलसारमेयै:--याद05-17
4. स वल्लभ:ससदि वल्लवीनां बर्हस्रजा दर्शितदानराजि:।
   उदग्रश्रृंगध्वनिरावभासे दृप्तो वशानामित्र वारणेन्द्र:।।या008-65

इसमें दानराजि एवं श्रृंग ध्वनि रूप साम्य के कारण भेद होते हुए भी कृष्ण को गजराज के समान बताया गया है, अत: उपमा है।

सागर के बीच द्वारकापुरी का निर्माण हो जाने पर विश्वकर्मा ने समुद्र तट से द्वारकापुरी तक एक सेतु का निर्माण किया, वह पृथ्वी और द्वारकापुरी की माप (गाम्भीर्य) करने के लिए रखे गये तुला दण्ड के समान था।[1]

इसमें सेतु और तुलादण्ड में सादृश्य दिखाया गया है, अत: उपमा है।

पारिजात लेकर द्वारका के लिए प्रस्थान करने पर कृष्ण सत्यभामा को श्रीहत स्वर्ग की दीन दशा दिखाते हुए कहते हैं कि सत्यभामा, पारिजातरहित स्वर्गलक्ष्मी आचार रहित वेदविद्या के समान, चन्द्रप्रस्थित निशा के समान और पतिहीन नारी के समान हो गयी है।[2]

इसमें स्वर्गलक्ष्मी का सादृश्य वेदविद्या, निशा और नारी से देने के कारण एक लड़ी सी लग जाती है। अत: इसे मालोपमा कहेंगे।

स्पष्ट न दिखायी पड़ने के कारण अनेक सन्देहों के स्थान अन्धकार तथा रात्रि को नष्ट करके प्रभातकाल सुशोभित हो रहा है।[3] इसमें तत्वज्ञान

---

1. स सेतु रास्कन्दितकूलयुग्म: संकल्पितो वासवलोकलक्ष्णा।
   महापुरीं यां च महीं च मातुं मध्ये तुलादण्ड इवार्पितोऽभूत्।।या0 11-35
2. सत्ये समीक्षस्य विपारिजातां वृत्तेन हीनामिव वेदविद्याम्।
   निशामिव प्रोषित शीतमानुं नारीमनाथामिव नाकलक्ष्मीम्।। या0 18-2
3. आशापरीतमविवेक मिवान्धकारं शंकाशतास्पदमलक्षितसर्वत्वम्।
   निर्धूय सम्प्रति निशामिव बाह्यविद्यां र्तवावसाय इव माति विभात काल:।। या0 19-5

यद्यपि उपमान कोटि में रखा गया है, किन्तु प्रभात काल से उसका सादृश्य प्रतिपादित करने पर न केवल प्रभात का महत्व बढ़ता है, अपितु तत्वज्ञान बोधकता में सुविधा तथा स्पष्टता भी आ जाती है।

चित्तवृत्ति को उपमान कोटि में रखते हुए वेदान्तदेशिक कहते हैं कि सात्यकि की सेना की धूल ने पश्चिम वाहिनी नदियों को भी उसी प्रकार गन्दी कर दिया, जिस प्रकार कि रजोगुण असमाहित व्यक्तियों की चित्तवृत्ति को प्रत्यगात्माभिमुखी रहने पर भी कलुषित कर देता है।[1]

यहां पर कालुष्रूप साधारण धर्म से चित्तवृत्ति और नदी का उपमानोपमेय भाव बड़े सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया गया है।

जिस प्रकार सत्ययुक्त समाहित चित्तयोगी पहले कामक्रोध को जीतता है उसके बाद विषयों (इन्द्रियार्थो) को जीतता है, उसी प्रकार समाहितचित्र बलशाली सात्यकि ने सहय और विन्ध्य को आक्रान्त करके अन्य विषम जनपदों को जीत लिया है।[2]

योगी द्वारा इन्द्रिय विजय को उपमान रूप में प्रस्तुत करके कवि ने बड़े सरल ढंग से योगमार्ग की प्रक्रिया प्रस्तुत कर दी है।

---

1. तत्र सैन्य रजश्चक्रे प्रतीचीरपि वाहिनी:
   असमाहित बुद्धीनां चित्तवृतीरिवाविला:।।या0 22-109
2. कामक्रोधाविवास्कन्ध सह्विन्ध्यो समाहित:।
   विजिग्येविषमांस्तत्र त्रिणयान् सत्वमारिथत:।। या022-216

इसी प्रकार रूपक, उत्प्रेक्षा, दृष्टान्त आदि अलंकारों के प्रयोग द्वारा भी योगादि के गूढ तत्वों को बहुत सरसरीति से आचार्य वेदान्तदेशिक ने समझाया है।

(ii) रूपक

भेद प्रसिद्ध होने पर सादृश्यातिशय के कारण उपमान और उपमेय का अभेद वर्णन रूपकालंकार कहलाता है।[1]

वेदान्तदेशिक के काव्यों में रूपकालंकार के असंख्य उत्कृष्ट उदाहरण मिलते हैं। एक अनुष्टपश्लोक में यदु को सन्तानवृक्ष बताते हुए कहते हैं कि यश रूप कुसुम सुगन्धि वाला अनेक शाखाओं (वेद प्रभेद-डाल) वाला यदुरूप सन्तान वृक्ष भूतल में विद्वानों और देवों की प्रीति के लिए हुआ।[2]

इसी प्रकार देवों द्वारा की गयी विष्णु की स्तुति में संसार मरुस्थली में परिश्रान्त प्राणियों के लिए भगवान् की भक्तिरूपा सुधा नदी में अवगाहन (विश्रान्ति का) उपाय बताया गया है।[3]

यहां पर प्रथम श्लोक में यशः प्रसूनसुरभिः यदुसन्तानपादप तथा द्वितीय श्लोक में संसारमरुकान्तार एवं त्वद्भक्त्यमृतवाहिनी पदों में उपमान और उपमेय में अभेद वर्णन किया गया है अतः रूपक अलंकार है।

---

1. 'तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः'। का0 प्र0 10-93
2. यशः प्रसूनसुरभिर्यदुसन्तानपादपः। बभूव विबुधप्रीत्यै बहुशाखः क्षमातले।। या0 1-25
3. संसारमरुकान्तारे परिश्रान्तस्य देहिनः। त्वद्भक्त्यमृतवाहिन्यामादिष्टमवगाहनम्।। या0 1-53

सायंकालीन संध्या का वर्णन करते हुए आचार्य कहते हैं कि फणामणि सदृश सूर्य बिम्ब वाला दिवस फणिराज सन्ध्यासुपर्णी को देखकर निश्चय ही पातालबिल में घुस गया।[1]

इसमें यद्यपि उपमा रूपक और उत्प्रेक्षा अलंकारों का संकर है, किन्तु वासरपन्नगेन्द्र सन्ध्यासुपर्णी पातालबिल पदों में प्रयुक्त रूपक अलंकार विशेष रूप से दर्शनीय है।

जीवन में स्वधर्मपरिपालन रूप स्थिर फल प्राप्त करने के लिए प्रेरित करते हुए कृष्ण की अधोलिखित उक्ति में 'जीवितद्रुम' पद द्वारा प्रदर्शित रूपक दर्शनीय है-

'पल्लवोपमकोमारे प्रसुनोपम योवने।

स्थिरं फलमुपादद्धवं जंगमें जीवितद्रुमे।। या0 22-39

यद्यपि इस श्लोक में 'जीवितद्रुम' पद के दोनों विशेषणों में उपमालंकार है, किन्तु प्रसिद्धद्रुम सेव्यतिरेक करने वाले 'जंगम' विशेषण के कारण यहां रूपक अलंकार ही होगा।

अर्जुन द्वारा काम-क्रोधादि पर विजय पर प्राप्त करने के सम्बन्ध में कहते हैं कि सुवितफल की कामना से श्रीकृष्ण द्वारा प्राप्त अविनश्वर विद्याशरों के द्वारा विवेकधन्वा अर्जुन ने दुर्दभ आभ्यन्तर शत्रुओं को जीत लिया।[2]

---

1. फणामणिप्रेक्ष्यसरांशुबिम्बरसन्ध्यासुपर्णीमवलोक्यभीतः।
तापाधिको वास रपन्नगेन्द्रः प्रायेण पातालबिलं विवेश।। या0 2-42
2. अभंगुरेधर्तिफलानुषंगात् विद्याशरेर्विश्वगुरोरुपासेः।
विवेकधन्वा विषमानजेषीत् अन्तस्स्थितान् जिष्णुररातिसंघान्।। या0 23-29

इसमें 'विद्याशर' विवेकधन्वा' इत्यादि पदों में उपमानोपमेय का अभेदेन प्रतिपादन हुआ है, अतः रूपक अलंकार है।

कृष्ण द्वारा हन्द्रिय नियमन रूप दृष्टान्त के द्वारा अर्जुन के अनुपमसारथी होने का वर्णन करते हुए वेदान्तदेशिक कहते हैं कि कृष्ण (अन्तर्यामीरूप से) जिस प्रकार जीवाश्रय देहरथ में निबद्ध इन्द्रियाश्वों का नियमन करते हैं, उसी प्रकार अर्जुन के रथ के सारथी बनकर अनुपमेय हो गये।[1]

इसमें 'देहरथ' इन्द्रियाश्व' आदि में रूपक उपस्थित करके वेदान्त के परमगूढ़ रहस्यों को बहुत स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया गया है

(iii) उत्प्रेक्षा

जहां उपमेय की उपमान के साथ (तादात्म्येन) सम्भावना की जाय, वहां उत्प्रेक्षालंकार होता है।[2]

सायंकालिक अन्धकार का वर्णन, करते हुए कवि कहता है कि सूर्य और चन्द्रमा से रहितरात्रि के प्रारम्भकाल में सबके नेत्रों को कलुशित करता हुआ अन्धकार वियोगियों के दिग्व्याप्त शोकाग्नि के धूम सा प्रतीत हुआ।[3]

---

1. यथा नियच्छत्ययमिनिन्द्रयाश्वान् जीवात्रये देहरथे निबद्धान्।
तथार्जुनस्यन्दनधुर्यनेता बभूव नान्येन निदर्शनीयः।। या0 23-28
2. सम्भावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत्। का0 प्र0 10-92
3. तदा तमः प्रोषितचन्द्रसूर्ये दोषामुखे दुषितसर्वमेत्रम्।
वियोगिनां शोकमयस्य बह्नेराशागतोधुम इवान्वभावि।। या0 2-44

इसमें प्रस्तुत अन्धकार की अप्रस्तुत शोकाग्निधूम से तादात्म्येन सम्भावना की गया है अतः उत्प्रेक्षालंकार है।

व्रज को नष्ट करने के लिए इन्द्र द्वारा प्रेरित विद्युत का चित्रण करते हुए आचार्य कहते हैं कि 'गोपों को निगल जाने के लिए प्रवृत्त प्रदीप्त विद्युत तत्क्षण अन्तरिक्ष में इन्द्र के क्रोधाग्नि की लपटरूप जिह्वा सी प्रतीत हुई।[1]

यहां पर प्रस्तुत विद्युत की अप्रस्तुत इन्द्र क्रोधाग्नि की ज्वालाग्रजिह्वा से तादात्म्येन सम्भावना की गयी है। अतः उत्प्रेक्षालंकार है।

कृष्ण और रुक्मिणी के प्रथम मिलन के अवसर पर रुक्मिणी द्वारा किये गये कटाक्षपात की द्वितीयवनमाला रूपेण सम्भावना दर्शनीय है।

अदभुतरूपदर्शनोत्कण्ठा के कारण स्निग्धनयनों वाली रुक्मिणी ने कामाधिक सौन्दर्यवाले प्रिय कृष्ण पर द्वितीय बनमाला सी तिर्यग्भूतविशेषरमणीय कटाक्षमाला को बांध दिया।[2]

भगवती माया रूप से डोला की सम्भावना करते हुए कृष्ण द्वारा अपनी पत्नियों को झुलाने का आचार्य वर्णन करते है।

---

1 क्षणप्रमास्तत्क्षणमन्तरिक्षे प्रायेणगोपान् ग्रसितं प्रवृता:।
वमासिरे वासवरोषवह्नेः ज्वालाग्रजिह्वा इव जातलोल्या:।। या0 7-22

2 तस्मिन् द्वितीयामिव बैजयन्ती सा च प्रिये साचिविशेषरम्याम्।
कटाक्षमालां निबबन्धकृष्णे कामाधिके कौतुकमेदुराक्षी।। या0 13-6

सर्वथा स्वाधीन कृष्ण ने भाग्यवती अंगनाओं को सत्वादिगुणों से घटित अपनी माया जैसी दृढ़ रज्जुओं वाली डोला पर चढ़ाकर स्वयं ही बार-बार झुलाया।[1]

इसमें भगवान् की माया से अभिभूत प्राणियों के संसार में गमनागमन भगवतस्वातन्त्रय, भगवन्नियामकत्वआदि औपनिषदिक रहस्यों का निरुपण अल्प शब्दों में ही बहुत सुन्दर रूप से कर दिया गया है। इसी प्रकार अनेक सुन्दर उदाहरण यादवाभ्युदय में सर्वत्र सुलभ है। यह उनका सर्वाधिक प्रिय अलंकार है अलंकारों में सबसे अधिक प्रयोग उन्होंने उत्प्रेक्षा का ही किया है। सब का प्रदर्शन या उत्प्रेक्षा के समस्त भेदों का निरूपण (विस्तार भय से) न करके केवल स्वरूपोत्प्रेक्षा के ही कतिपय उदाहरणों का उल्लेख किया गया है।

(iv) अनन्वय

एक वाक्य में एक ही के उपमान तथा उपमेय (दोनों) होने पर अनन्वय अलंकार होता है।[2]

भगवान् कृष्ण अपनी माया से सभी जीवों को संसार चक्र में घुमाते हुए गोपांगनाओं को रासनृत्ताधीन करके स्वयं अपने दृष्टान्त बने।[3]

---

1. स्थिरधृतिमथिरोप्य रत्नहोलां गुणघटितामिव माधवस्स्वमायाम्।
अगमयत् गतागतान्यमीक्ष्णं सुकृतजुषस्स्वयमंगनाः स्वतन्त्रः।। या0 24-26
2. उपमानोपमेयत्वे एकस्यैवेकवाक्यगे अनन्वयः। का0 प्र0 10-91
3. स्वमायया घूर्णयतो महत्या विश्वानि भूतानि विभोरजस्त्रम्।
रामाजनं रासवशं विधाय स्वस्य स्वयं प्राप निदर्शनत्वम्।। या0 8-86

इसमें स्वस्य स्वयं प्राप निदर्शनत्वम् द्वारा कृष्ण की ही उपमेयता और उपमानता दोनों दिखायी गयी है। उनके समान अन्य उपमान न होने के कारण यहां अनन्वय अलंकार है।

इसी प्रकार 'उपमानमिवात्मनः स्वयं प्रतिमानेऽपि समेसमत्सरम्'[1] में कृष्ण अपने उपमान के समान थे। वे प्रतिबिम्ब के समान होने पर भी उसे उपमानेरूप में सह नहीं सकते थे।

द्वारकापुरी का वर्णन करते हुए कवि कहता है-

आश्चर्याणां प्रकृतिरियमित्यद्भुतावेशयोग्या--

मप्रत्युहामनितरतुलारोहणीयाममिख्याम्।।[2]

इसमें द्वारका को अनितरतुलारोहणीया कहकर स्वयं उसी को अपने समान कवि ने बताया है। अतः यहां अनन्वय अलंकार है। शब्द से कथित न होने के कारण इसे व्यंग्य माना जायेगा।

युद्ध में पराजित इन्द्र भगवान् की स्तुति करते हुये कहते हैं। कि-

देशकालगणनातिलघमिः मातुमागमगणेन वांछितैः।

भूषितो गुण विभूति सागरैः त्वत्समस्त्वमितरेमिथरसमाः।।[3]

इसमें 'त्वत्स्मस्त्वम्' इत्यादि में अनन्वय अलंकार प्रयुक्त हुआ है।

---

1 यादवाभ्युदय 9-24

2 यादवाभ्युदय 11-77

3 यादवाभ्युदय 17-101

(v) उपमेयोपमा

उपमान और उपमेय का परिवर्तन हो जाना अर्थात् उपमान का उपमेय तथा उपमेय का उपमान रूप में वर्णन उपमेयोपमालंकार कहलाता है।[1]

आचार्य वेदान्तदेशिक के आलोच्यकाव्य में केवल एकश्लोक में 'उपमेयोपमा' अलंकार मिलता है। वह भी वाच्य न होकर व्यंग्य ही कहा जायेगा। उक्त श्लोक अधोलिखित रूप में है--

उदन्वति व्योमतले च लग्नां वृष्टोमया दर्पणदर्शनीय।

यामद्भुतामात्मपुरीं च देवाश्छायाममन्यन्त मिथः समीक्ष्याम्।।[2]

द्वारकापुरी का वर्णन करते हुए इस श्लोक में देवों द्वारा द्वारका और अमरावती को परस्पर प्रतिबिम्ब समझे जाने का उल्लेख किया गया है। समुद्र में द्वारका को देखकर अपनी पुरी का प्रतिबिम्ब तथा आकाश में अपना पुरी देखकर द्वारका का प्रतिबिम्ब उन्होंने समझा। अतः दोनों में परस्पर उपमानोपमेयत्व रूप उपमेयोपमालंकार व्यंग्य होता है।

(vi) सन्देह

इसे ही काव्यप्रकाशकार ने ससन्देह अलंकार कहा है। उनके अनुसार उपमेय में उपमान रूप से संशय सन्देह नामक अलंकार है। वह उन दोनों के भेद का कथन करने तथा न करने से दो प्रकार का होता है।[3]

---

1. विपर्यास उपमेयोपमा तयोः - का० प्र० 10-91
2. यादवाभ्युदय 11-42
3. ससन्देहस्तु भेदोक्तौ तदनुक्तौ च संशयः। का० प्र० 10-92

व्रज को डुबाने के लिए इन्द्र द्वारा प्रेषित कृष्ण मेघमाला को देखकर क्या अन्तरिक्ष ही घना हो गया है? क्या पाताल लोक से धूम उठा है? क्या यह प्रलय सागर का कारण है? इत्यादि लोगों ने समझा।[1]

इसमें प्रस्तुत मेघमाला के विषय में अन्तरिक्ष धूम और सागर के कारण रूप से संशय किया गया है, अतः सन्देह अलंकार है।

इसी प्रकार महाभारत के युद्ध में अर्जुन द्वारा कौरव पाण्डवों की विशाल सेना का सद्यः विनाश कर देने पर लोगों को शंका हुई है कि यह स्वप्न था अथवा इन्द्रजाल था? क्या यह गन्धर्व नगरी (भ्रम से आकाश में नगर की प्रतीति) हो गयीं।[2]

यहां पर सेना विनाश के लिए स्वप्न, इन्द्रजालादिरूपेण संशय उपस्थापित हुआ है अतः सन्देह अलंकार है।

(vii) अपहनुति

जहां प्रकृत (उपमेय) का निषेध करके अप्रकृत (उपनाम) की सिद्धि की जाती है, वहां अपहनुति अलंकार होता है।[3] यह अपह्नुति शाब्दी तथा आर्थी भेद से दो प्रकार की होती है। जहां प्रकृत का निषेध शब्दतः किया जाता है, वह शाब्दी कहलाती है और जहां निषेध शब्दतः नहीं किया जाता, अपितु अर्थः आक्षिप्त होता है, वहाँ आर्थी अपह्नुति कही

---

1. किमन्तरिक्षेण घनीबभुवे किमुत्थितं ध्वान्तमहीन्द्रलोकात्।
मूलं किमेतत्प्रलयार्णवानामितीव मेने मलिनाभ्रमाला।। या0 7-23

2. स्वप्नः किमासीदधवेन्द्रजालंबभुवगन्धर्वपुरी किमेषा।
इतीवशंकां विदधे प्रलीना पताकिनी कौरवपाण्डवानाम्।। या0 23-45

3. प्रकृतं यन्निषिध्यान्यत्साय्यते सा त्वपह्नुतिः। का0 प्र0 10-96

जाती है। आचार्य वेदान्तदेशिक के महाकाव्य यादवाभ्युदय में केवल आर्थी अपह्नुति के ही उदाहरण सुलभ हैं, शाब्दी के नहीं। जैसे चन्द्रोदय का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि चन्द्रमा ने कुमुदिनियों के द्वारा अपने विरह दुःख के कारण भ्रमरों के बहाने पिये गये विष को कर (किरण-हाथ) में स्थित अमृत से सींचकर दूर किया।[1]

यहां पर कुमुदिनी में भ्रमर नहीं है अपितु 'पिया गया विष है' इस अर्थ की प्रतीति होती है, जो कि प्रकृत भ्रमर के निषेधरूप में आयी है। साथ ही अप्रकृत विषपान की सिद्धि की गयी है, अतः अपह्नुति अलंकार है।

इसी प्रकार

सन्ध्याच्छलेन पुरुषोत्तम साम्प्रतं से

सैवाधुना भृगुसुता तमसां निहन्त्री।

भूयरसमुत्तियतवती धृतपुण्डरीका

भोगाय सागर गृहाद्भुचनैकयूनः।।[2]

इत्यादि श्लोक में 'प्रातः सन्ध्या के व्याज से लक्ष्मी के प्रकट होने का वर्णन कियाा गया है। यहां पर प्रकृत सन्ध्या का निषेध और अप्रकृत लक्ष्मी की प्रतीति करायी गयी है, अतः अपह्नुति अलंकार है।

---

1. स्वविप्रयोगव्यसनान्निपीतं भृङ्गापदेशेन कुमुद्वतीभिः।
   सुधाभिराप्लाव्य करस्थिताभिः प्रच्यावयामास विषंसुधांशुः ।। 2-83
2. यादवाभ्युदय 19-70

(viii) समासोक्ति

प्रकृतार्थ प्रतिपादक वाक्य से श्लिष्ट विशेषण के कारण अप्रकृत अर्थ का कथन समासोक्ति (संक्षेप से अर्थद्वयकथन) अलंकार है।[1]

रात्रि-वर्णन के अवसर पर कुमुदिनी का वर्णन करते हुए आचार्य कहते हैं कि हंसों से त्यक्त संग वाली, मनोहर विकास वाली, भ्रमरों का नाद प्रारम्भ किए हुए कुमुदिनी ने सब के उपभोग योग्य समय अर्धरात्रि में सास हुए कमल की हँसी उड़ायी।[2]

इस श्लोक के उक्त प्रस्तुत अर्थ के साथ हंसावधूता चारूस्मिता आदि विशेषणों के कारण वीतरागों से त्यक्त संगवाली सुन्दर मन्दहास युक्त साथ में हंसते हुए विट युक्त वेश्या सर्वोपभोग्य समय में वनितारस से अनभिज्ञ होने के कारण सोये हुए व्यक्ति की हँसी उड़ाती है इत्यादि अप्रस्तुत अर्थ की भी प्रतीति होती है। अतः यहां समासोक्ति अलंकार है।

वर्षारम्भ का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि भ्रमर समय परिवर्तन के कारण क्षीण बना दिये गये गिरिमल्लिका, कुंकुम प्रभृति पुष्पों को तुरन्त त्यागकर मुकुल युक्त तामरसों (कमलों) से पुनः प्रेम करने लगे।

इसमें उक्त प्रस्तुत वर्णन से सेवा कुशल पुरुषों द्वारा कालवशात् क्षीण हो गये स्वामियों को छोड़कर समृद्ध कोशवाले अन्य राजाओं का

---

1. परोक्तिर्भेदकैः श्लिष्टैः समासोक्तिः - का० प्र० 10-97
2. प्रायेण हंसैरवधूतसंगा चारूस्मिता सभृतभृंगनादा।
   सर्वोपभोग्ये समये प्रसुप्तं कुमुद्वती कोकनंद जहास।। या० 2-79

आश्रयण किया जाता है इत्यादि अप्रस्तुत अर्थ की प्रतीति होती है। अतः यहां पर समासोक्ति अलंकार है।

प्रभात वर्णन के अवसर पर गजेन्द्रों के अधोलिखित वर्णन में विशेषण बलात् अप्रस्तुत धीतराग वृत्तान्त की प्रतीति दर्शनीय है।

सत्वक्षमाधिकतयाशयिताः पृथिव्यां

निद्रामयीं व्यपगमद्युय निजामविधाम्।

निरसंगवृत्तिनियतास्स्थिरसंयमाहां:

मुंचन्ति सम्प्रति मुदं मुदिता गजेन्द्राः।।[1]

(ix) निदर्शना

जहां वस्तु का सम्बन्ध न होते हुए भी उपमा का परिकल्पक (प्रकृत का अपकृत के साथ उपमेयोपमानभाव) होता है, वह निदर्शना नामक अलङ्कार कहा जाता है।[2]

बलराम को वृन्दावन के दृश्यों का अवलोकन कराते हुए कृष्ण कहते है कि ये निर्मल जल तुम्हारे कटाक्षविक्षेप के (अरुण धवलनील रूपरमणीय) गुणों को धारण किये हुए कहलार पुण्डरीक और उत्पलों की कान्ति से युक्त प्रवाहों द्वारा चारों ओर वन प्रदेशों को शीतल बना रहे हैं।[3]

---

1. विहायसद्यः कुटजार्जुनादीन् विप्लावितान् कालविपर्ययेण।
   पुनर्बबन्धुः प्रणयं द्विरेफाः कोशोपपन्नेशु कुशेशयेषु।। या० 05-51
2. निदर्शना। अभवन् वस्तु सम्बन्धः उपमा परिकल्पकः। का० प्र० 10-97
3. कह्लारपद्मोत्पलकान्तिभिस्ते कटाक्षविक्षेपगुणं भजन्त्यः।
   अरण्यभागानभितः प्रवाहैराप्याययन्त्याप इमाः प्रसन्नाः।। या० 8-27

इसमें कटाक्ष और कहलारादि में कोई सम्बन्ध न होने पर भी प्रस्तुत कहलारादि युक्त प्रवाह और अप्रस्तुत बलराम के कटाक्षों में उपमेयोपमान भाव की परिणति होती है अतः निदर्शना अलंकार है।

रूक्मिणी द्वारा कृष्ण के प्रथम दर्शन का वर्णन करते हुए आचार्य कहते हैं कि जाति पुष्प की माला से अलंकृत अंगों वाले एवं दृष्टिधारा तथा विद्युत मेघ के समान कृष्ण को देखकर उनमें अनन्यदृष्टि रूक्मिणी ने चातकों की वृत्ति (अनन्यासक्ति) का आश्रयण किया।[1]

यहां रूक्मिणी और चातक में सम्बन्ध न होने पर भी उक्त वर्णन में उनका उपमेयोपमान भाव में पर्यवसान होता है। अतः निदर्शना नामक अलंकार है।

इसी प्रकार कृष्ण और जाम्बवान् के युद्धावसर पर ऋक्षराज की शोभा के वर्णन काल में निदर्शना अलंकार का सुन्दर प्रयोग हुआ है।

स ऋक्षराजः क्षतजैर्जयश्रियः कुचापितैः कुंकुमकर्दमैरिव।

परिष्कृतांगः प्रचितोन्नताकृतिः सगैरिकदमाथ रसम्पदं दधौ।।[2]

इसमें रक्तरंजित जाम्बवान् को गेरूयुक्त पर्वत की शोभा से सम्पन्न बताया गया है। यद्यपि जाम्बवान् और पर्वत में कोई सम्बन्ध नहीं है, किन्तु उक्त वर्णन का अवसान दोनों के उपमेयोपमान भाव में होता है।

---

1. तंमाल्यभूषापरिकर्मितांग धारातटित्वन्तमिवाम्बुवाहम्।
समीक्ष्य बाला तदनन्यदृष्टि श्चर्यामवालम्बत चातकानाम्।। या0 13-16

2. यादवाभ्युदय 14-13

अत: उपमा का परिकल्पक होने के कारण यह निदर्शनालंकार का उदाहरण है।

(x) अतिशयोक्ति

उपमान के द्वारा उपमेय का निगरण (अन्तर्भाव) करके अध्यवसान (आहार्य अभेदनिश्चय, कल्पित अभेद कथन) करना, प्रस्तुत अर्थ का अन्यरूप से वर्णन, यदि के समानार्थक शब्द लगाकर कल्पना करना तथा कार्यकारण के पौवापर्य का विपर्यय अतिशयोक्ति (चार प्रकार का) अलंकार कहा जाता है।[1] यहां पर भी अतिशयोक्ति का लक्षण करते समय ही आचार्य मम्मट ने उसके भेदों का भी परिगणन कर दिया है।

वर्षाकाल में आकाश का वर्णन करते हुए कहते हैं कि मृदंग ध्वनि के समान गम्भीर गर्जना वाला विद्युत सम्पादित चारू लास्य वाला नव (नूतन नवसंख्यक) रसों (जल-रस) को उत्पन्न करने वाला आकाश काम नट का रंगमंच बन गया।[2]

इसमें सौदामिनी सम्भृतचारूलास्य: पद में विद्युत चलन में लास्यत्व का अध्यवसान किया गया है, अत: अतिशयोक्ति अलंकार है।

---

1. निर्गीयाध्यवसानन्तु प्रकृतस्य परेण यत्।
प्रस्तुतस्य यदन्यत्वं यद्यर्थोक्तौ च कल्पनम्।।
कार्यकारणायोर्यश्च पौर्वापर्यविपर्यय:
विज्ञेयाऽतिशयोक्ति: सा।। का0प्र0 10-100, 101
2. मृदंगधीरस्तुनितो विहाया: सौदामिनीसभृतचारूलस्य:।
बभौ नवानां प्रभवो रसानां रतिप्रियस्येव नटस्य रङ्ग:।। यादवाभ्युदय - 5-44

वर्षा के वर्णन में यह कथन कि विद्युत के द्वारा अंगविक्षेप प्रकट करते हुए काल ने प्रलयकालीननृत्य प्रस्तुत किया।[1] इत्यादि में विद्यतु गर्जन और करकपात के अनन्तर होने वाली महावृष्टि ही काल के युगान्त नृत्य के रूप में अध्यवसित हुई है। अतः यहाँ अतिशयोक्ति अलंङ्कार है।

रूक्मिणी के विवाहकाल में भगवान् कृष्ण ने अपने करकमलों से उनके चरणों को पकड़कर जिस पत्थर पर रखा वह (पत्थर) स्वयं श्रुतियों का किरीट रत्न हो गया।[2]

यहां पर लक्ष्मी के चरण सम्पर्क की महिमा से पत्थर भी उपनिषदों में श्लाघनीय हो गया इत्यादि रूप से अतिशयोक्ति अलंकार आया है।

बाणासुर और कृष्ण के युद्ध के अवसर पर मारने से बचे हुए और प्रद्युम्न के पराक्रम के भय से वापस आ गये। बाणासुर के मृत्यु अपनी बल्लभाओं के नयनों को देखकर प्रद्युम्न के ध्वजचिह्न (मीन) का स्मरण हो आने से डर गये।

यहां पर उक्त रूप से भय सम्बन्ध न होने पर भी उसका सम्बन्ध दिखाया गया है। अतः अतिशयोक्ति अलंकार है। इस श्लोक में कवि की कल्पना दर्शनीय है।

---

1 क्षणप्रभाभिर्धरिताङ्गहारः कालः प्रतुष्टाव युगान्तनृत्तम्।। यादव 7-25

2 तस्यास्सलीलं चरणाविन्दं कामी गृहीत्वा करपंकजाभ्याम्।
आस्थापमद्यां दृषदं मुकुन्दः साऽभूत्स्वयं मौलिमणिः श्रुतीनाम्।। यादवा 13/93

(xi) व्यतिरेक

उपमान से उपमेय का आधिक्य (विशेषण अतिरेक) वर्णन ही व्यतिरेक कहा जाता है।[1]

भगवान विष्णु को देखकर देवों के हृदय में उद्भूत भावों का वर्णन करते हुए आचार्य कहते हैं कि देवों ने उनको अस्तमयरहित सूर्य, क्षयरहित चन्द्रमा और पाररहित सुधासागर समझा।[2]

सूर्य अस्तमय है, चन्द्रमा क्षणयुक्त है, सुधासागर पार किया जा सकता है, किन्तु भगवान विष्णु इन से विलक्षण रूप में दिखाये गये हैं। अतः वह सूर्यादि से बढ़कर हैं, इत्यादि रूप से भगवान विष्णु का विशेषरूप से अतिरेक प्रतीत होता है अतः यहां व्यतिरेक अलंकार है।

रासलीला के लिए वेणुनाद सुनकर आयी हुई गोपियों ने कृष्ण को वृद्धि और संकोच से रहित चन्द्रमा और चापरहित गृहीत-वेणु दूसरा कामदेव समझा इत्यादि में उत्प्रेक्षाव्याप्ति व्यतिरेक ही है, क्योंकि चन्द्रमा तो वृद्धि और क्षय से युक्त है किन्तु कृष्ण इससे रहित रूप में वर्णित है। अतः उनका आधिक्य प्रतीत होने के कारण यहां व्यतिरेक अलंकार है।

राजनीतिशास्त्र का उपदेश देते हुए कृष्ण कहते हैं कि जिसकी कीर्ति रूपी सुधा का विद्वान (देव) आस्वादन करते हैं, वह राजा (नृपति-चन्द्र) वृद्धि प्राप्त करता है, किन्तु समय से क्षीण नहीं होता है।

---

1. उपमानाद् यदन्यंस्थ व्यतिरेकः स स्व सः। का0प्र0 10-105
2. अनपायं तमादित्यमक्षयं तारकाधिपम्।
अपारममृताम्भोधिममन्यन्त दिवै कसः।। यादवा 1-74

इसमें राजा का चन्द्रमा से आधिक्य रूप व्यतिरेक वर्णित हुआ है, क्योंकि सुधारवादन और वृद्धि तो दोनों की समान है किन्तु राजा का क्षीण न होना चन्द्रमा से अधिक है, अत: यहां व्यतिरेक अलंकार है।

क्षमा की महिमा का स्थापन करते हुए कवि कहता है कि–

न शापो नाभिचरणं न शास्त्रं न बलं तथा।

नास्त्राणि न च शस्त्राणि यथा तीक्ष्णतमा क्षमा।।[1]

यहां पर क्षमा की तीक्ष्णता शापादि से बढ़कर है, इत्यादि रूप में स्पष्टतया आधिक्य प्रतीत होने के कारण व्यतिरेक अलंकार है।

(xii)विभावना

कारण का निषेध (या अभाव) होने पर भी फलोत्पत्ति का वर्णन होने पर विभावना अलंकार होता है।[2]

युधिष्ठिर द्वारा की गयी कृष्ण की पूजा का समर्थन करने पर भीष्म की निन्दा करते हुए शिशुपाल कहता है कि पक्षपात दोषरहित, कर्तव्य कर्मो में सदैव सावधान रहने वाले तथा अनेक गुरुओं से शिक्षित होने के कारण शुद्ध चित्त यह कुरू पितामह भीष्म किस कारण से अत्यधिक अविवेक ग्रस्त हो गये हैं (जो कि कृष्ण की पूजा का समर्थन कर रहे हैं)[3]।

---

1. अवृद्धिसंकोचमिवेन्दुमन्यकार्मुकं काममित्रा सवैगुणम्।
2. सुधासुमनसो यस्य स्वादयन्ति यशोमयीम्।
   स राजा वृद्धिमाप्नोति दायते न च कालत:।।
3. अनघोऽयमतन्द्रित: क्रियायां गुरूभिश्शिक्षितशुद्धधीरनेकै:।
   कुरूवंशपितामह: कुतोऽसौ मतिमोहेन महीयसा गृहीत:।। यादवा0 15–98

यहां पर किसी कारण के न होने पर भी मतिमोह रूप कार्य की उत्पत्ति हो रही है, अतः विभावना अलंकार है।

इसी प्रकार मुनियों की निन्दा करते हुए वह कहता है कि आलस्यहीन (कर्त्तव्य कर्म विचारों में सावधान), अमूढ़ (कृत्याकृत्य विवेक में कुशल) तथा श्रवण और वचन शक्ति से युक्त मुनियों ने यहां पर क्यों मौन ग्रहण कर लिया है।[1]

इसमें भी मौन ग्रहण का कोई कारण न होने पर भी मौन धारण रूप कार्य की उत्पत्ति बतायी गयी है, अतः विभावना अलंकार है।

(xiii) विशेषोक्ति

सम्पूर्ण कारणों के होने पर भी फल का न कहना विशेषोक्ति है।[2]

गोवर्धन का वर्णन करते हैं कि उखाड़ा गया, खिसकाया गया और पुनः पूर्ववत् स्थापित किया गया गोवर्धन पर्वत कृष्ण के संकल्प से अल्पमात्र भी शिथिल नहीं हुआ।[3]

इसमें शिथिलता के कारणभूत उखाड़ना, खिसकाना और पुनः स्थापित करना इत्यादि के वर्तमान होने पर भी शिथिलीभाव रूप फल का कथन नहीं किया गया है। अतः विशेषोक्ति अलंकार है।

---

1. अशठैरजडैरनेडमुकैर्मुनिभिश्चात्रकिङ्यकारि मौनम्। यादवा 15-99
2. विशेषोक्तिरखण्डेशु कारणेषु फलावचः। का0 प्र0 10 -108
3. उत्क्षिप्यमाणः परिवर्त्यमानः संस्थाप्यमानोऽपि तथैव मूयः।
स तस्य संकल्पवशेन भेजे शैलो न शैथिल्यकथाप्रसंगम्।। यादवा0 7-87

प्रलयोचित वेगशाली वायु युद्ध में क्रीड़ा करते हुए नरकासुर के अल्प स्वेदकण को भी नहीं सुखा सका[1] इत्यादि वर्णन में स्वेद को सुखा सकने में सर्वथा समर्थ वेगवान वायु के होने पर भी स्वेदकणिका प्रशमन रूप फल की उत्पत्ति का कथन नहीं किया गया है, अतः विशेषोक्ति नामक अलंङ्कार है।

(xiv) अर्थान्तरन्यास

सामान्य अथवा विशेष का उससे भिन्न (अर्थात सामान्य का विशेष के द्वारा और विशेष का सामान्य) के द्वारा जो समर्थन किया जाता है, वह अर्थान्तरयास अलंकार है। वह साधर्म्य तथा वैधर्म्य से दो प्रकार का होता है।[2]

गोपों द्वारा इन्द्र की पूजा बन्द कर देने पर इन्द्र के क्रुद्ध होने का उल्लेख करते हुए आचार्य कहते हैं कि इन्द्र ने इतने समय तक अत्यधिक जल प्रान्त करने वाले उपासक गोपों को आधार छटा देने के कारण मार डालना चाहा, क्यों कृतघ्नों के लिए क्या नृशंसता? अर्थात् वे सब कुछ कर सकते हैं।[3]

यहां पर सदैव पूजा करने वाले गोपों की पूजा को महत्त्व न देकर उन्हें मारने के लिए तत्पर हुए इन्द्र रूप विशेष अर्थ का समर्थन कृतघ्नों

---

1. शक्तश्शमयितुं तस्य संवर्तार्हजवोऽपि सन्।
नभस्वान् खेलतस्सङ्ये न स्वेदकणिकामपि।। या० 16-38
2. सामान्यं वा विशेषो वा तदन्येन समर्थयते।
यत्तु सोऽर्थान्तरन्यासः साधर्म्येणेतरेण वा।। का प्र० 10-109
3. अवञ्चितान्यूनपयः प्रदानानाराधकान्कालमियन्तमिन्द्रः।
आहारकर्षावादभिहन्तुमैच्छत्कृतानभिज्ञेषु किमानृशंस्यम्।। या० 7-12

के लिए कोई कार्य नृशंसतापूर्ण नहीं है इत्यादि द्वारा किया गया है अतः यहां अर्थान्तरन्यास अलंकार है।

महाभारत युद्ध का वर्णन करते हुए वेदान्तदेशिक कहते हैं कि युद्ध में अर्जुन ने क्रुद्ध हुए सम्पूर्ण देवों से भी दुर्जेय भीष्मादि योद्धाओं को सहायक कृष्ण की शक्ति से जीत लिया, क्योंकि केशव के आश्रितों के लिए क्या दुष्कर है? अर्थात् सब सुकर ही है।[1]

यहां पर कृष्ण सहायक अर्जुन द्वारा भीष्मादि विजय का समर्थन भगवद्भक्तों के लिए कुछ भी दुष्कर नहीं है इत्यादि द्वारा किया गया है। अत अर्यान्तरन्यास अलंकार है।

(xv) विरोध

इसे ही विरोधाभास अलंकार भी कहते हैं। विरोध या विरोधाभास अलंकार वहां होता है जहां वास्तव में विरोध न होने पर विरुद्ध रूप से वर्णन किया जाता है।[2]

उदाहरणार्थ- भगवान् विष्णु ने यादव रूप में अवतरित होते हुए जिस अष्टमी को अपने जन्म के योग्य समझा उससे द्वितीया तिथि (नवमी) भगवन्यायारूप योगनिद्रा को जन्म देकर तिथियों में प्रथमा हो गयी।[3]

---

1. सुरैरशेषैरपि जातरोषैः स दुर्जयान् भीष्ममुखान् जिगाय।
सहायशक्त्या युधि सव्यसाचोकिंदुष्करं केशवमाश्रितानाम्।। या० 23-44
2. विरोधः सोऽविरोधेऽधि विरूद्धत्वैन यद्वचः। का० प्र० 10-110
3. अजः स्वजन्माईतयानुमेने यामष्टमी यादवभावमिच्छन्।
द्वितीयया भावतियोगनिद्रा साभुत्तदानी प्रथमा तिथीनाम्। या० 2-95

यहां अष्टमी से द्वितीया अर्थात् नवमी तिथि प्रथमा हो गयी। सत्यादि में नवमी को प्रथमा कहने पर विरोध प्रतीत होता है। वस्तुतः प्रथमा का अर्थ मुख्य है इस प्रकार नवमी तिथियों में मुख्य हो गयी इत्यादि में कोई विरोध नहीं है।

इन्द्र कृष्ण से नरकासुर के पराक्रम का वर्णन करते हुए कहते हैं कि कुबेर द्वारा उसके सिर पर मारी गयी गदा से पुष्प निर्मित आपीड (शिरोमाला) को भेदकर पीडराहित्य को ही प्राप्त किया।[1]

इसमें आपीड होने पर अनापिडत्व धारण किया में जो आपीड है, वह अनापीड कैसे हो सकता है, इत्यादि रूप से विरोध प्रतीत होता है, किन्तु आपीड का अर्थ शेखर (शिरोमाला) करने पर विरोध का परिहार हो जाता है। अतः विरोधाभास अलंकार है।

कृष्ण की विचित्र महिमा का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि कर्मानुष्ठान के नियम से युक्त होने पर भी कर्म के आधीन नहीं है, विषयास्वादन करने पर भी वीतराग हैं, नगर में निवास करने पर भी सर्वत्र निवास करते हैं, तो फिर किसी से द्वारा कैसे वर्णन किया जा सकता है।[2]

उपर्युक्त श्लोक में प्रथम तीन वाक्यों में विरोध प्रतीत होता है, किन्तु अतर्क्य महिमाशाली अघटित घटनापटीयान भगवान् कृष्ण के लिए

---

1. धनदेन गदा तस्य महती मूर्धिर्न पातिता।
अभित्वा पौष्पमापीऽमनापोडत्वमादघो।। या0 16-39
2. क्रतुविधिनियतोऽप्यकर्मवश्यः परिचितकामरसोऽपि वीतरागः।
नगरवसतिरप्यशेषवासः कथमिव केन विभुस्स वर्णनीयः।। या0 24-2

सब कुछ सम्भव है। उनके अतर्क्याद्भुतचरित होने के कारण विरोध का परिहार हो जाता है। अत: विरोधाभास अलंकार है।

(xvi) काव्यलिंग

हेतु का वाक्यार्थ या पदार्थ के रूप में कथन करना काव्यलिंग होता है,[1] अर्थात जहां पर वाक्य या पद से हेतु वर्णित हों उसे काव्यलिंग अलंकार कहते हैं।

क्रुद्ध अश्वत्थामा द्वारा उत्तरा के गर्भ में परीक्षित को जला देने पर कृष्ण ने यदि में ब्रह्मचर्य स्यात् सत्यं चमयितिष्ठति। अव्याहतं ममैश्चर्य तेन जीवतु बालक: इत्यादि प्रतिज्ञा करके बालक को जीवित कर दिया था। इसी हेतु के आधार पर वेदान्ददेशिक कहते हैं कि गोपांगनाओं के सम्भोग में भी कृष्ण का ब्रह्मचर्य भंग नहीं हुआ, क्योंकि उसी अधाधित ब्रह्मचर्य के द्वारा उन्होंने व्यासादि महानुभावों के समक्ष बालक को जीवन प्रदान किया था।[2]

यहां पर कृष्ण के अखण्ड ब्रह्मचर्य की पुष्टि में बालक को जीवित करना इत्यादि वाक्य हेतु रूप में रखा गया है अत: काव्यलिंगालंकार है।

---

1. काव्यलिंग हेतोर्वाक्यपदार्थता। का0 प्र0 10-114
2. विमोहने बल्लवगेहनीनां न ब्रह्मचर्य विभिदे तदीयम्
सम्पत्स्यते बालकजीवनं तत्सत्येन येनैव सतां समक्षम्।। या0 4-64

ग्रीष्म की उग्रता के कारण अत्यन्त बुभुक्षित व्याघ्रादि दुष्ट जीव वृन्दावन में गायों को कष्ट देते हैं, यह सोचकर कृष्ण ने बलदेव के साथ आखेडक्रीड़ा की।[1]

यहां पर आखेड क्रीड़ा में दुष्ट जीवों द्वारा गायों को कष्ट देना हेतु रूप से प्रतिपादित किया गया है। अतः काव्यलिंग अलंकार है।

कृष्ण ने अद्भुत चरित और परब्रह्मत्व का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि रमणियों की दृष्टि से नियन्त्रित कृष्ण का इन्द्रादि के प्रति प्रभुत्व, सम्भोग में आसक्त हृदय होने पर भी अक्षय ब्रह्मचर्य और एक पुरी में निवास करते हुए उनका सभी लोकों से अतिरेक का ध्यान करते हुए ज्ञानीजन शीघ्र ही उनकी दुस्तर माया को पार कर जाते हैं।[2]

इसमें प्रथम तीन वाक्यों में प्रतिपादित विषयज्ञान दुस्तर माया को शीघ्र पार कर जाने में हेतु बताया गया है अतः काव्यलिंग अलङ्कार है।

इस प्रकार कतिपय प्रसिद्ध अलंकारों के कुछ उदाहरणों पर विचार कर लेने के अनन्तर हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते है कि आचार्य वेदान्तदेशिक अलंकारों के प्रयोग में पारंगत थे। उक्त अलंकारों के अतिरिक्त दृष्टान्त, अर्थापत्ति, सहोक्ति, भ्रान्तिमान, स्वभावोक्ति, तुल्ययोगिता,

---

1. निदाघतैक्ष्ण्यादिह दुष्टसत्त्वाः क्षोभं गवां कुयुरतिक्षुधाताः।
इतीक्षमाण सहजेन सार्धं व्यधत्त नाथो मृगयाविहारम्।। या० 5-13

2. नारीदृष्ट्या नियमितधियो नाकनाथेश्वरत्वं
सम्भोगे च प्रवणमनसश्शाश्वतं ब्रह्मचर्यम्।
अत्रैकस्यां पुरि निवसतस्सर्वलोकाधिकत्वं
निध्यायन्तस्त्वरितमतरन् दुस्तरां तस्य मायाम्।। या० 24-96

उल्लेख, परिणाम, पर्याय, पुनरूक्तवदाभास, उदात्त, अनुमान, व्याजोधित, परिकार, परिकरांकुर, यथासंख्य, अन्योन्य, प्रतीप, विषम, प्रतिवस्तुपमा, स्मरण, संसृष्टि, संकर आदि अनेक अलंकारों से संकुलित श्लोक यादवाभ्युदयमहाकाव्य में भरे पड़े हैं। विस्तारमय तथा प्रबन्धोत्कर्षानिधायक होने के कारण उनके विवेचन से विरत होना स्वाभाविक है।

खण्ड (3) चित्रालङ्कार

शब्द और अर्थ काव्य पुरूष के शरीर माने जाते हैं। रस उसकी आत्मा है। यद्यपि औत्तरकालिक समालोचकों की यह मान्यता रही है कि जो अलङ्कार शब्दार्थ को अलंकृत करते हुए रस का भी परिपोष करें, उन्हें ही अलङ्कार माना जाय, किन्तु अनेक कवियों ने इस ओर ध्यान नहीं दिया। यह परम्परा नयी नहीं है, अपितु भ्रामह, दण्डी, उद्भट आदि आलंकारिकों द्वारा चलायी गयी प्राचीन परम्परा है जिसमें अलङ्कार को ही काव्य का प्राण तत्त्व माना जाता है। इस परम्परा में शब्द और अर्थ को अलंकृत करना ही काव्योत्कर्षाधायक समझा जाता था। अतः काव्य को चमत्कृत करने के लिए अनुप्रास, श्लेष, यमक के साथ चित्रालंकारों का भी उद्भव हुआ। चित्रालंकारों का प्रयोग कवि के प्रतिभाशाली होने का सूचक समझा जाने लगा। इसका खण्डन करके आनन्दवर्धन ने ध्वनिवाद की स्थापना की। यद्यपि वेदान्तदेशिक के काल तक ध्वनिवाद की पूर्ण प्रतिष्ठा हो चुकी थी किन्तु उन्होंने प्राचीन वादों की उपेक्षा नहीं की। उनकी कृतियों में प्रमुख रूप से ध्वनिवाद को ही स्थान मिला किन्तु अंगरूप में अन्य मान्यताओं का भी सम्मान किया गया। यदि यह कहा जाय कि भाषा पर

पूर्ण अधिकार होने के कारण चित्र काव्य को प्रस्तुत करने में उन्हें कठिनाई का तो अनुभव हुआ नहीं होगा, अपितु लोगों में विनोद तथा चमत्कार की सृष्टि करने के उद्देश्य से चित्रलंकारों की भी रचना की, तो अनुचित न होगा। इनके द्वारा प्रयुक्त चित्रांलकारों का विवेचन भी प्रसंग प्राप्त एवं आवश्यक हैं। अतः उन पर संक्षेप में विचार किया जाता है।

चित्रालंकारों के आठ प्रमुख भेद हैं-1. स्वरचित्र, 2. वर्णचित्र, 3. स्थान चित्र, 4. बन्ध चित्र, 5. गतिचित्र, 6. प्रहेलिका, 7. च्युत और 8. गूढ़चित्र।[1] इनके भी अनेक अवान्तर भेद होते है किन्तु उन पर विस्तार से विचार न करके वेदान्तदेशिक के काव्यों में प्रयुक्त चित्रालंकारों का ही विवेचन किया जायेगा।

1. स्वरचित्र

जिन श्लोकों में विशेष प्रकार से स्वर सन्निवेश किया जाता है। वहां स्वरचित्र काव्य होता है। वेदान्तदेशिक की कृतियों में स्वरचित्र का केवल एक उदाहरण मिलता है-

प्रणमतमिममचलममरमहितमहितमहितमहित।

भजनमलघुविफलमिहन सदयसदय सदय सदय।[2]

यह हस्व त्रिस्वर चित्र काव्य है। इसमें हस्व अ, इ और उ (तीन) स्वर प्रयुक्त हुए हैं।

---

1. स्वरवर्णस्थानबन्ध गतीनां नियमस्तथा
प्रहेलिकाच्युतं गूढ़मेतच्चित्रं निगयते।। यादवा0 6-39 टीका में अध्यय दीक्षित द्वारा उद्धत
2. यादवाभ्युदय 6-39

2. वर्णचित्र

जहां किसी श्लोक में विशेष वर्णों का ही प्रयोग किया जाता है, वहां वर्णचित्र काव्य होता है। वेदान्तदेशिक ने द्वयक्षर, अभूर्धन्यद्वयक्षर, अदन्त्यद्वयक्षर, अमूर्धन्यत्रयक्षर, पादेकाक्षरी आदि अनेक वर्णचित्रों का प्रयोग 18 श्लोकों में किया है।

चारूचीरीरूचा रोची रूरूचारैरचर्चरू:

चिरोच्चरोचिरचरो रूचिरो रूचिराचर:।।[1]

यह द्वयक्षर का उदाहरण है। इसमें केवल च और र (दो) वर्ण ही प्रयुक्त हुए हैं।

अमूर्धन्य द्वयक्षर का प्रयोग अधोलिखित श्लोक में किया गया है-

पतता पततोपेत: पतितोत्पतितातप:।

पाता पीतोपतापोऽपि तप:पुतपते पित:।।[2]

इसमें केवल त और प वर्णो का प्रयोग किया गया है, जो कि अमूर्धन्य हैं।

रवीरेरावरावारोऽवर वैरिविरावर।

विवराराविविवरो वीर वव्रै वरैरूरू:।।[3]

---

1. यादवाभ्युदय 6-78
2. यादवाभ्युदय 6-87
3. यादवाभ्युदय 6-90

यह श्लोक अदन्त्य द्वयक्षर का उदाहरण है। इसमें र और व (दो) वर्ण ही प्रयुक्त हुए हैं, जो कि दन्त्य वर्ण नहीं है।

इसी प्रकार तीन वर्णों के सन्निवेश से भी चित्र काव्य की रचना की जाती है'

निःसमानेन मानेन सुमनोमानसैः समः।

सोमसीमासमासन्नसानुमान्सानुमानसौ।।[1]

इत्यादि श्लोक त्रयदार अमूर्धन्य चित्र काव्य हैं। इसमें न, स और म (तीन) अमूर्धन्य वर्णों का प्रयोग किया गया है।

एक अक्षर से रचित पादों वाले श्लोक को भी वर्णचित्र के अन्तर्गत रखते हैं।

तातेतातीतितातीतः केकाकाकुककेकिः।

पापोपपापपापापो नानानानानान्ननान्ननीः।।[2]

श्लोक पादेकाक्षरी का उदाहरण है। इसके चारों पादों की रचना क्रमशः त, क, प और न वर्णो से हुई है।

3. स्थानचित्र

जिन श्लोकों का उच्चारण ताल्वादि नियत स्थानों से ही होता है उन्हें स्थान चित्र काव्य कहते हैं। इसके एक स्थान, द्विस्थान, त्रिस्थान आदि अनेक भेद हो सकते हैं।

---

1. यादवाभ्युदय 6-92
2. यादवाभ्युदय 6-93

उदाहरण के लिए-

अहहांग खगंगाकगाहकांगांकगागकः।

अधाकागांगकागांकगांगकागखगांगकः।[1]

इत्यादि श्लोक एक स्थान चित्र काव्य का उदाहरण है। इसमें केवल कण्ठस्थानीय अ, क, ख, ग, घ, ङ वर्णों का प्रयोग हुआ है।[2] अतः यह लक्षण संगत है।

अगः सनग आसन्नः सालताललतातत:।

सततं सहतघनः संगतानन्दसाधकः।।[3]

उपर्युक्त श्लोक द्विस्थान चित्रकाव्य का उदाहरण है। इसमें कण्ठस्थानीय अ, क, ग और घ वर्ण दन्तस्थानीय त, द, ध, न, ल और स वर्ण प्रयुक्त हुए हैं। इस श्लोक का उच्चारण कण्ठ और दन्त केवल दो स्थानों से ही होता है।

इसी प्रकार तीन स्थानों से उच्चरित होने वाला श्लोक-

अचंचलांगससाकश्चलाचलघनातत:।

अचलः कस्य नाकल्यः साध्यानन्दस्य सिद्धिकृत।।[4] इत्यादि है।

---

1. यादवाभ्युदय 6-68
2. अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः। सि० कौ० संज्ञा प्रकरण
3. यादवाभ्युदय 6-67
4. यादवाभ्युदय 6-66

इसमें कण्ठस्थानीय अ, क, ग, घ, ङ तालुस्थानीय च, ञ और य और दन्तस्थानीय त, द, ध, न, ल, स वर्णो का प्रयोग किया गया है अत: कोई इसे त्रिस्थानचित्रकाव्य कहा जायेगा।

किसी एक स्थान का परिहार करके भी स्थानचित्र काव्यों का प्रयोग किया जाता है जैसे-

रजतगैरिकरलगणैरयं कनति कान्तलतांचितकानन:।

त्रिजगदेकनिधानतयाधिकस्त्रिदशराजधराधरतल्लजात्।।[1]

इस श्लोक में औष्ठ वर्णो का प्रयोग नहीं किया गया है, तदतिरिक्त कण्ठ, तालु, मुर्ध्न और दन्त (स्थान चतुष्टय) वर्णो का प्रयोग किया गया है। अत: यह निरोष्ठ स्थान चतुष्टय चित्र काव्य है।

4. बन्धचित्र

चित्रकाव्यों में सर्वाधिक प्रसिद्ध बन्ध चित्रकाव्य ही है। वस्तुत: बन्धचित्र काव्यों के आधार पर ही इन काव्यों का नाम चित्रकाव्य पड़ा है, क्योंकि बन्ध काव्यों को ऐसे क्रम विशेष से रखा जा सकता है कि उनसे चक्र, मुरज, पद्म आदि चित्र बन जाते हैं। बन्ध चित्रकाव्यों की इयत्ता नहीं है। इन्हें बाण, धनुष, व्योम, खड्ग, मुद्गर, शक्ति, मृदंग, पद्म आदि असंख्य रूपों में रखा जा सकता है।[2]

---

1. यादवाभ्युदय 6-69
2. वाणवाणासनव्योमखड्गमुद्गारशवतय:। मृदंगपद्मश्रृंगारदम्भोलिकमुसलांकुशा:।
 पदं रथस्य नागस्य पुष्करिष्यसिपत्रिका। स्ते बन्धरतथाचान्येऽप्येवं शैवा: रवयंमुनि:।।

अ0यु0342

आचार्य वेदान्तदेशिक ने सर्वतोभद्र अर्धभ्रमक, मुरज, चक्र और पद्म बन्ध का प्रयोग अपने काव्यों में किया है।

(क) सर्वतोभद्र

यादवाभ्यदुय महाकाव्य के तीन श्लोकों[1] में सर्वतोभद्र बन्ध काव्य प्रयुक्त हुआ है। सर्वतोभद्र का विन्यास क्रम अधोलिखित रूप में है।

सर्वप्रथम एक चौकोर कोष्ठ खींच दिया जाता है उसके बीच में खड़ी और पड़ी सात सात रेखायें खींचकर कोष्ठ को आठपंक्तियों और चौसठ कोष्ठकों में विभक्त कर दिया जाता है। ऊपर की प्रथम चार पङ्क्तियों में श्लोक का एक-एक पाद क्रमशः लिख दिया जाता है। यह ध्यान रखा जाता है कि पाद का प्रत्येक वर्णन एक कोष्ठक में रहे। इसके बाद पांचवीं आदि पंक्तियों में श्लोक के पादों को उलट कर लिख दिया जाता है अर्थात् पंचम पंक्ति में श्लोक का चतुर्थ पाद, षष्ठ पंक्ति में तृतीय पाद इत्यादि। इस विन्यास क्रम से-चारों बाहरी पंक्तियों में श्लोक का प्रथम पाद दूसरी पंक्ति में द्वितीय पाद, तीसरी पंक्ति में तृतीय पाद, और चौथी पंक्ति में चतुर्थ पाद पढ़ा जा सकता है। उदाहरण के लिए यादवाभ्युदय का अधोलिखित श्लोक लिया जा सकता है।

मा	या	मा	सा	सा	मा	या	मा
या	सू	ता	या	या	ता	सू	या
मा	ता	या	या	या	या	ता	मा

1 यादवाभ्युदय 6-99,100,101

सा	या	या	गे	गे	या	या	सा
सा	या	या	गे	गे	या	या	सा
मा	ता	या	या	या	या	ता	मा
या	सू	ता	या	या	ता	सू	या
मा	या	मा	सा	सा	मा	या	मा

(ख) अर्धभ्रमक

इसका विन्यासक्रम भी सर्वतोभद्र की ही तरह है। इसमें सर्वतोभद्र से केवल इतना अन्तर है कि पादार्ध में केवल पादार्ध का ही भ्रमण होता है, न कि पूरे पाद का। अधोलिखित उदाहरण[1] से यह अधिक स्पष्ट हो जायेगा।

न	दी	सा	र	स	मे	ता	ध
दी	प्ता	मा	सा	न	रा	वृ	ता
सा	मा	ना	सौ	मा	मि	रा	मे
र	सा	सौ	च्या	मु	मा	न	स
र	सा	सौ	च्या	सू	मा	न	स
सा	मा	ना	सौ	मा	मि	रा	मे
दी	प्ता	मा	सा	न	रा	वृ	ता
न	दी	सा	र	स	मे	ता	त्र

1. यादवाभ्युदय 6-102

इसमें नदी सार इस पूर्व पादार्ध तक ही समस्त पदार्धो का भ्रमण प्रथम, द्वितीयादि पंक्ति और पाद के क्रम से मिलता है। उत्तर पादार्ध समेतात्र के नीचे लिखे गये पादार्धो का भ्रमण नहीं होता है।

(ग) मुरजबन्ध

इसका रचना क्रम विशेष प्रकार का है। प्रथम पंक्ति में प्रथम पाद के वर्णो को लिखकर उसके नीचे क्रमशः द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ पाद के वर्णो को लिखना चाहिए। इन वर्णो में विशेष प्रकार से रेखायें खींचकर श्लोक पढ़ना तथा मुरज की रचना करनी चाहिए। जैसे प्रथम, द्वितीयादि पादों में क्रम से प्रथम, द्वितीय तृतीय और चतुर्थ वर्णो पर नीचे की ओर एक रेखा खींचनी चाहिए। फिर चतुर्थ पाद के पंचम वर्ण से तृतीय, द्वितीय और प्रथम पाद के षष्ठ, सप्तम और अष्टम वर्णो पर ऊर्ध्वातिर्यक रेखा खींचना चाहिए। इस प्रकार दो रेखाओं से प्रथम पद की रचना हो जायेगी। इसके विपरीत चतुर्थ पाद के प्रथम वर्ण से प्रथम पाद के चतुर्थ वर्ण तक और फिर प्रथम पाद के पंचम वर्ण से चतुर्थ के अष्टम वर्ण तक दो रेखायें खींचने से चतुर्थ पाद की रचना हो जायेगी। द्वितीयक पाद की रचना प्रथम पाद के संयोग से की जाती है। द्वितीयक पाद के प्रथम वर्ण से प्रथम पाद के द्वितीयक वर्ण तक फिर प्रथम पाद के तृतीय वर्ण से द्वितीय पाद के चतुर्थ वर्ण तक तथा आगे भी रेखा खींचनी चाहिए। तृतीय पाद की रचना चतुर्थ वर्ण के संयोग से की जाती है। द्वितीयक पाद का तरह ही इसे तृतीय पाद के आदि वर्ण से प्रारम्भ कर अन्य पाद के दो

वर्णो को दूसरे पाद के अग्रिम वर्णो से मिलाते जाते हैं। उदाहरण के लिए वेदान्तदेशिक का अधोलिखित श्लोक ले सकते हैं।[1]

इसमें उक्त क्रम से वर्णो का विन्यास किया गया है। अत: प्रथम पाद के प्रथम वर्ण 'व' से प्रारम्भ कर चतुर्थ पाद के चतुर्थ वर्ण 'त्र' तक और फिर चतुर्थ पाद के पंचम वर्ण 'स' प्रथम पाद के अष्टम अक्षर 'न्द' तक हम 'वसुदानन्द वसदानन्द' इत्यादि प्रथम पाद पढ़ सकते हैं। इसी प्रकार उक्त क्रम से सभी पादों को पढ़ा जा सकता है।

(घ) चक्रबन्ध

चक्रबन्ध का वर्णविन्यास क्रम उक्त समस्त बन्धों से विचित्र है। इसमें सर्वप्रथम दस गोलाकार रेखाएं खींचकर दस मण्डल बना लेना चाहिए। फिर नाभिस्थान (मध्यस्थकोष्ठ) को बीच में रखकर पूरे चक्र में तीन बीथियां खींच देनी चाहिए। इस प्रकार सभी बीथियों में 19 कोष्ठक हो जायेंगे। इसकी तीनों बीथियों में क्रम से तीनों पादों को लिख देना चाहिए। फिर नेमि मण्डल (नवम) के 6 कोष्ठकों को दो भागों में विभक्त करके तृतीय पाद के अन्तिम वर्ण वाले कोष्ठ से प्रारम्भ करके बायीं ओर घूमते हुए नेमिकोष्ठों में वर्णो को लिखते हुए वहीं आकर समाप्ति करना चाहिए। इस प्रकार रचना करने पर नाभि का वर्ण प्रथम तीनों पादों के दशम अक्षर के रूप में प्रयुक्त होगा। तीनों पादों के आदि और अन्तिम वर्णो का प्रयोग चतुर्थ पाद की पूर्ति में किया जायेगा। तृतीय पाद के अन्तिम वर्ण के साथ चतुर्थ पाद का प्रथम और अन्तिम वर्ण

1. यादवाभ्युदय 6-103

श्लिष्ट होगा। इसे अधोलिखित श्लोक से स्पष्ट रूप में समझा जा सकता है।[1]

इस चक्र में नाभिस्थ 'व' अक्षर तीनों पादों के दशम अक्षर के रूप में श्लिष्ट है। चतुर्थ पाद का प्रारम्भ और समापन तृतीय पाद के अन्तिम अक्षर 'वे' से होता है। इसी प्रकार चक्रबन्ध की अन्य सभी विशेषतायें भी इसमें मिलती हैं। प्रस्तुत चक्रबन्ध चित्र काव्य का सबसे बड़ा वैशिष्ट्य यह है कि इसके तृतीय एवं षष्ठ वलय में 'वेंकटनाथीयो यादवाभ्युदय:' पढ़ा जा सकता है। इसके द्वारा कवि ने अपना (कवि का) और काव्य का नामोल्लेख किया है। ऐसी विशेषतायें वेदान्तदेशिक जैसे कतिपय कनिष्ठिकाधिष्ठित कवियों में ही प्राप्त होती है।

(ङ) पद्मबन्ध

बन्ध चित्रकाव्यों के अन्तर्गत पद्मबन्ध का भी महत्वपूर्ण स्थान है। वेदान्तदेशिक ने अपने काव्य में एक स्थान पर इसका भी प्रयोग किया है।[2]

(च) गोमूत्रिकाबन्ध

इसका रचनाक्रम विशेष कठिन नहीं है। श्लोक के पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध को दो पंक्तियों में लिख देना चाहिए। फिर प्रथमार्ध का प्रथम अक्षर और द्वितीयार्ध का द्वितीयअक्षर आदि क्रम से प्रथमार्ध के अयुग्म

---

1. यादवाभ्युदय 6/104
2. वासेनास्मिन्पुजादेवावादे जातातोद्या रावा।
वारा द्याविर्भूताजीवा वाजीतात्रादीना सेवा।। यादवा0 6-105

अक्षरों और द्वितीयार्ध के युग्म अक्षरों को पढ़ना चाहिए। इस प्रकार प्रथम पाद की रचना हो जायेगी। द्वितीय पाद की रचना के लिए द्वितीय पाद के प्रथमादि अयुग्म अक्षरों और प्रथम पाद के द्वितीयादि युग्म अक्षरों को क्रम से पढ़ना चाहिए। इसमें पठ्यमान लिपि विन्यास गोमूत्र रेखा के समान टेढ़ा हुआ करता है अतः इसे गोमूत्रिकाबन्ध कहते हैं। वेदान्तदेशिक ने अपने काव्य में दो श्लोकों में इसका प्रयोग किया है।[1]

5. गतिचित्र

चित्रकाव्यों में गति चित्र भी उसका एक महत्वपूर्ण भेद है। इसमें प्रथम द्वितीय तथा तृतीय चतुर्थ पाद को परस्पर एक दूसरे से अनुलोम-प्रतिलोम क्रम से पढ़ा जा सकता है। उदाहरण के लिए वेदान्तदेशिक का अधोलिखित श्लोक ले सकते हैं।

या चले जरसानेता ताने सारजले चया।

कालिमानवसायामा माया सा वनमालिका।।[2]

इसमें प्रथम पद को यदि उलट कर (प्रतिलोमक्रम से) पढ़ा जाय तो 'ताने सारजलेचया' इत्यादि द्वितीय पाद की रचना हो जाती है। द्वितीय पाद को यदि प्रतिलोम क्रम से पढ़ा जाय तो 'याचले जरसानेता' रूप प्रथम पद की संघटना हो जाती है। इसी प्रकार तृतीय और चतुर्थ पाद को भी समझ लेना चाहिए।

---

1. यादवाभ्युदय 6-64,65
2. यादवाभ्युदय 6-76

6. प्रहेलिका

वेदान्तदेशिक ने काव्य में प्रहेलिका का भी प्रयोग किया है। प्रहेलिका नामक चित्रालंकार वहाँ होता है, जहाँ पर क्रिया, कर्ता आदि उस श्लोक में प्रयुक्त रहने पर भी झटिति प्रतीत नहीं होते। अधोलिखित उदाहरण से यह बात अधिक स्पष्ट हो जायेगी।

नन्दगोपप्रभो धर्मैव्रजवृद्धार्य सद्गतिम्।

भजतामेव बुद्धाद्रिं तनुत्राणे रतिं गवाम्।।[1]

इसमें नन्दगोप और व्रजबृद्ध के सम्बोधन परक भजताम् के शत्रन्त तथा तनुत्राण के कवचपरक तुरन्त प्रतीत होने के कारण नन्द, ब्रज, भज और तनु क्रियाओं का शीघ्र बोध नहीं हो पाता है। अतः यहां क्रियाचतुष्टयवंचिका प्रयुक्त हुई है। इसी श्लोक को यदि अधोलिखित रूप में लिख दिया जाय तो पढ़ते समय तो प्रहेलिका चित्रालंकार नहीं ही रह जायेगा, श्रवण करने में भले ही प्रतीत हो।

नन्द गोपप्रभो धर्मव्रज वृद्धार्य सद्गतिम्।

भज तामेव बुद्धाद्रिं तनु त्राणे रतिं गवाम्।। इति

7. च्युत चित्रालंकार

जहां श्लोक में किसी बिन्दु (अनुस्वार) का प्रयोग नहीं किया जाता है, किन्तु उस बिन्दु (अनुस्वार) को रखकर पढ़ने से ही अर्थ की प्रतीति होती है, वहां विन्दु च्युतक नामक चित्रालंकार होता है। इसी प्रकार मात्रा

---

1. यादवाभ्युदय 6-48

च्युतक, वर्ण च्युतक आदि अलंकार भी होते हैं। कभी कभी अधिक विन्दु मात्रा या अक्षर भी श्लोक में दे दिये जाते हैं, उन्हें हटाकर पढ़ने से ही श्लोकार्थ स्पष्ट होता है, इसे दत्त च्युतक कहते हैं। साहित्य दर्पणकार ने च्युतक और दत्तच्युतक को प्रहेलिका का ही भेद माना है।[1] इन्हें प्रहेलिका के अन्तर्गत भी रखा जा सकता है, किन्तु यत्किंचित् वैचित्र्य प्रतिपादन ही तो इन अलंकारों का उद्देश्य है, जो कि इनमें और प्रहेलिका में स्पष्ट प्रतीत होता है। अतः इन्हें स्वतन्त्र अलंकार मानना ही अधिक समीचीन होगा। विन्दुच्युतक का उदाहरण वेदान्तदेशिक का अधोलिखित श्लोक है-

अहार्यो विविधैर्भोगैराकर्षन्विबु धानपि।

अपरिच्छिन्नमूलोऽसौ ससारः सर्वदुःखकृत्।।[2]

इसमें 'ससारः' शब्द के 'स' अक्षर पर बिन्दु लगाकर 'संसारः' पढ़ने पर ही अर्थ की प्रताति होती है। अतः यह बिन्दुच्युतक नामक चित्रालंकार कहा जायगा।

8. गूढ़ चित्र

जिस श्लोक में कोई पाद, शब्द या अक्षर गूढ़ रूप से छिपा रहता है वहां गूढ़ चित्रालंकार होता है। उदाहरण के लिए-

सहेत पर्वतोऽयं वो गोप्तुं क्वचन कन्दरे।

अदरिद्रा वसामोऽत्र सर्वहेतोरिवोदरे।।[3]

---

1. रसस्य परिपन्यित्वान्नालंकारः प्रहेलिका।
उक्तिवैचित्रयमात्रं साच्युतदत्तदारादिका।। सा० द० 10-13,14
2. यादवाभ्युदय 6-47
3. यादवाभ्युदय 6-70

इत्यादि श्लोक के चतुर्थ पाद के सभी अक्षर प्रथम तीन पादों में तत्त्स्थानों पर प्रविष्ट हैं। अतः इसे गूढ़ चतुर्थ नामक गूढ़चित्रालंकार कहा जायेगा।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि वेदान्तदेशिक ने चित्रालंकार के आठों प्रमुख भेदों को अपने काव्यों में स्थान दिया है।

चित्र संसृष्टि

अन्य अलंकारों की भांति चित्रालंकारों की भी संसृष्टि होती है। वेदान्तदेशिक ने अपने काव्य के दो श्लोकों[1] में चित्रसंसृष्टि का समायोजन किया है। उदाहरण के लिए उनमें से प्रथम श्लोक यहां लिया जाता है-

नानानानानानानानाना नाना नाना ना नाना।

ना नानानाना ना नानानानाना ना नानाना।।

इसमें एक ही स्वर प्रयुक्त हुआ है। अतः स्वर चित्र, एक वर्ण होने के कारण वर्ण चित्र तथा एक स्थान होने के कारण स्थान चित्र है। इससे गोमुत्रिका, सर्वतोभद्र, कंकणबन्ध, तथा पद्मबन्ध की रचना हो सकती है। अतः बन्ध चित्र भी है। श्लोकानुलोम प्रतिलोम रूप गति चित्र भी है। इनके अतिरिक्त अभ्यस्तमहायमक का भी इसमें सन्निवेश है। अतः यह कहा जा सकता है कि इसमें अनेक चित्रालंकारों की संसृष्टि है।

इस प्रकार चित्रालंकारों का प्रयोग करने से अनन्तर वेदान्तदेशिक कहते हैं कि यहां पर चौड़े से अक्लिष्टचित्रालंकार दिखाये गये हैं। इस

---

1. यादवाभ्युदय 6-96, 98

तरह के हजारों चित्रालंकारों का बड़ा आसानी से प्रयोग किया जा सकता है।[1] किन्तु भगवान् कृष्ण के दिव्य चरितों का वर्णन करना है अतः इससे विरत होते हैं।

1. अविलष्टचित्रमिदमत्र मनागिवोक्तं
चित्रायुतानि सुवचनानि पुनस्तथापि।। या० 6-108

पञ्चम-अध्याय

यादवाभ्युदय महाकाव्य में काव्यगत दोष

'यादवाभ्युदय महाकाव्य में काव्यगत दोष'

जगत् की कोई भी वस्तु अपने में पूर्ण नहीं है चाहे वह ईश्वर की सृष्टि हो या, किसी कवि अथवा लेखक की। इसी अपूर्णता या कमी को ही दोष कहते हैं। काव्य रचना के लिए आवश्यक प्रतिभा, व्युत्पत्ति एवं अभ्यास आदि हेतुओं में से एक से भी हीन कवि उत्तम काव्य रचना में समर्थ नहीं हो सकता साथ ही उसकी रचना में दोष होना तो स्वाभाविक ही है। काव्य के समस्त कारणों से विज्ञ और निर्दोष काव्य रचने में समर्थ कवियों की रचनाओं में भी यत्र-तत्र दोष मिल ही जाते हैं। ऐसे कवि की रचना में दोष का हेतु उसका प्रमाद ही कहा जा सकता है। विशिष्ट सामर्थ्य होने पर असावधानी की अधिक सम्भावनाओं का समावेश रहता है। जिस प्रकार जन्म से स्वतन्त्र व्यक्ति को अनुशासन महान् बना देता है उसी प्रकार अपनी सृष्टि (रचना) के लिए सर्वतन्त्र स्वतन्त्र कवि को उत्तम काव्य की रचना के लिए आचार्यो द्वारा प्रशस्त काव्य मार्ग का निरूपण किया गया है। निर्धारित सीमा में चलना कवि के लिए आवश्यक है उसका उल्लंघन दोष की श्रेणी में आता है चाहे वह ज्ञानपूर्वक किया जाय या अज्ञानतावश अथवा प्रमादवश किया जाय। काव्य में जिससे मुख्य अर्थ का अपकर्ष होता है उसे दोष कहते हैं और काव्य का मुख्य अर्थ माना जाता है रस-''मुख्यार्थ हतिर्दोषो रसश्च मुख्यः''[1] अभिप्रायतः काव्यगत कमी को दोष इसलिए माना जाता है क्योंकि इससे रस परिपाक में बाधा पड़ती

1. काव्य प्रकाश उल्लास सप्तम प्रथम कारिका।

है। अतएव काव्य लक्षणकारों ने नित्यानित्य दोष की भी कल्पना की है। उदाहरणार्थ दु:श्रवत्व आदि दोष श्रृङ्गार, शान्त इत्यादि रसों की अनुभूति काल में दोष माने जाते हुए भी वीर रौद्र आदि रसों की अभिव्यक्ति के लिए गुण माने जाते हैं।

कवितार्किकसिंह आचार्य वेदान्तदेशिक की रचनाओं में भी कुछ न कुछ दोष प्रतीत होते ही हैं। हम इस अध्याय में श्री देशिक जी के यादवाभ्युदय महाकाव्य में विद्वानों द्वारा इंगित कुछ दोषों पर इस दृष्टि से विचार कर रहे हैं कि वे रसास्वादन में कहाँ तक बाधक हैं। साथ ही इसी आधार पर पुनः यह भी निष्कर्ष प्रस्तुत करने का प्रयास करेंगे कि क्या ये दोष प्रकृत महाकाव्य के अपकर्ष का कारण हो सके हैं? अथवा नहीं?

1. अप्रयुक्तत्त्व

कोश आदि में पठित होने पर भी कवियों द्वारा न अपनाये गये शब्दों का यदि कोई कवि प्रयोग करता है तो इसे अप्रयुक्तत्व दोष कहा जाता है।

उदाहरण के लिए वेदान्तदेशिक के अधोलिखित श्लोक को ले सकते हैं। जाम्बवान् को जीतकर कृष्ण द्वारा स्यमन्तक मणि ले जाने पर सूर्य के समान स्यमन्तक की प्रभा से कुमुदों के समान मिथ्या अपवाद लगाने वालों

ने लज्जा से आखें छिपा लीं और अन्य लोग कमलों के समान प्रसन्न हो गये।[1]

यहां पर पुल्लिङ्ग में 'पद्माः' शब्द का प्रयोग किया गया है।

इसी प्रकार-

'नैशं तनः क्षिपतिनन्दितचक्रवाके पद्मान् प्रबोधयति भावितमित्रभावे।[2]

तथा- 'त्रिविक्रमस्य स्थितमुन्नतं च पठद्वयं पाथसि रक्तपद्माः।[3] इत्यादि में पद्म शब्द पुल्लिंग में प्रयुक्त हुआ है। साहित्य दर्पणकार ने 'भाति पद्मः सरोवरे' इत्यादि को उदाहरण रूप में प्रस्तुत करके पद्मः का पुल्लिंग में रखा जाना अप्रयुक्त दोष माना है। इसी आधार पर वेदान्तदेशिक के उक्त श्लोकों में भी अप्रयुक्त दोष कहा जा सकता है। किन्तु यदि विचार किया जाय तो 'पद्म' शब्द का पुल्लिङ्ग में प्रयोग अप्रयुक्त दोष का उदाहरण नहीं माना जाना चाहिए। क्योंकि महाकवियों ने यदि इसका पुल्लिङ्ग में प्रयोग किया है तो हम इसे कवियों द्वारा अनादृत नहीं कह सकते हैं। पद्म शब्द को पुल्लिङ्ग में प्रयोग करने वाले महाकवियों में श्री हर्ष[4], वेदान्तदेशिक आदि प्रसिद्ध हैं।

---

1. स्यमन्तकस्य द्युमणेरिवत्विषा निमेषमापुः कुमुदाकरा इव।
   ह्रिया च मिथ्यापरिवादिनस्तदा परे च पद्मा च तद्विपर्यम्।। या0 14/67
2. याद0 19-34
3. याद0 5-61
4. नेषध 10-120

2. अवाचकत्व

जैसा कि अवाचक शब्द से ही प्रतीत होता है, यह दोष उस समय होता है जब कोई शब्द किसी विशेष अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है, किन्तु वह अर्थ उस शब्द का अभिधेय (वाच्य) अर्थ नहीं होता है।

दूसरे शब्दों हमें यह कहा जा सकता है कि वह शब्द उस अर्थ का वाचक नहीं होता अर्थात् अवाचक होता है।

ग्रीष्म ऋतु का वर्णन करते हुए वेदान्तदेशिक कहते हैं कि कृष्ण के पीछे आने वाले गोपों ने (वसन्त में खिलने वाले) धुलिकदम्बों के पराग को हिलाने वाले तथा झरनों के जलकणों के लिए हुए पवन से थकावट दूर की।[1]

यहां पर थकावट दूर करने के लिए 'निन्युः' क्रिया का प्रयोग किया गया है। 'निन्युः' प्रयोग 'णीञ्' प्रापणे धातु से लिट्लकार के प्रथम पुरुष बहुवचन में सिद्ध होता है। इस प्रकार इस शब्द का अर्थ 'प्राप्त किया' होगा न कि 'दूर किया'। यहां पर निन्युः का प्रयोग 'अपनिन्युः' के अर्थ में किया गया है। 'अप' उपसर्ग के साथ ही उक्त विवक्षित अर्थ देने में समर्थ है स्वतन्त्र रूप से नहीं। अतः यहां पर अवाचक दोष है।

3. विसन्धित्व

यद्यपि कवि या लेखक वाक्य में सन्धि करने या न करने के लिए स्वतन्त्र है, तथापि श्लोक में यदि सन्धि नहीं की जाती है तो उसे कवि

---

1. विधुन्वता धुलिकदम्बरेणून्धाराकदम्बांकुरकारणेन।
निन्युः श्रमं निर्झरबिन्दुभाजा नभस्वता नन्दसुतानुयाताः।। या0 5-34

की अशक्ति या प्रमाद ही माना जाता है। इसीलिए ऐसे स्थलों को विसन्धित्व दोष के अन्तर्गत रखा जाता है।

भगवान् कृष्ण से मल्लयुद्ध में पराजित जाम्बवान् उन्हें विष्णु का ही अवतार समझकर कहता है कि इस समय भूतल में आपके अतिरिक्त बलवान् (यह राम ही हैं) उत्पन्न करने वाले गुणों से युक्त उस प्रकार (राम सदृश गुण युक्त) कोई नहीं है। एकमात्र, हनुमान्, विभीषण या मेरे द्वारा भी वह (राम) ही यह (कृष्ण) हैं, आप समझे जा सकते हैं।[1]

यहां पर 'भूतले ऋते' पद में सन्धि नहीं की गयी है, इसलिए विसन्धित्व दोष है। इस सम्बन्ध में श्री अप्पय दीक्षित ने ही सम्यक् विचार किया है। अतः उसे ही अविकलरूप में प्रस्तुत कर देना अधिक उपयुक्त होगा। वे कहते हैं कि 'भूतले ऋते' इत्यत्र 'संहितायाम्' (पा0सू0 6.1.72) इत्याधिकोरण सन्धेरेच्छिकत्वात् सन्धि कार्य न कृतम्। न च तथापि विसन्धित्वं काव्यदोषस्यादिति वाच्यम्। तस्यहिन तावदत्र कविशक्त्यभावोन्नायकतया दोषत्वं, शक्तस्यापि क्वचित्संहितायामेच्छिकाणिव्युत्पादनाय तथा प्रयोगसम्भवात्। नापि बन्धपारूष्य हेतुतया।....सन्ध्यभावकृतबन्धपारुष्यनिवारकतया दोषापादत्वं स्यादिति नात्र कश्चिद्दोषः...।[2]

---

1. न तादृशास्सम्प्रति सन्ति भूतले ऋते भवन्तं प्रतिसंन्धिभावनैः।
हनूमतैकेन विभीषणेन वा मयापिवा सोऽयमिति त्यमूह्यसे।। या0 14-33
2. यादवाभ्युदय 14-33 टीका (अप्पय दीक्षित)

इसके अतिरिक्त यह हेतु भी दिया जा सकता है कि उक्त विसन्धि से किसी प्रकार का रसापकर्ष भी तो नहीं होता है। अतः इस स्थल पर दोष नहीं कहा जा सकता है। वस्तुतः अनेक बार सन्धि न करने पर ही रसानुभूति में बाधा आती है, इसीलिए दर्पणकार ने कहा है कि एवंविधसन्धिविश्लेषख्यासकृत्प्रयोग एव दोषः।[1] अतः निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि सन्धि के स्वैच्छिक होने, पारूष्य (दुःश्रवत्य) दोष का निवारण होने तथा रसानुभूति में बाधक न होने के कारण उक्त स्थल पर सन्धि न करना दोष नहीं है।

4. कथितपदत्व

जहां एक ही पद का पुनः कथन किया जाता है, वहां कथितपदत्व दोष होता है।

वर्षा ऋतु के वर्णन में कवि कहता है कि कृष्ण ने मेघ के बहाने कराग्र को बढ़ाने वाली अपने (कृष्ण के) नेत्र के समान चन्द्र सूर्य को आच्छादित करती हुई लीला उत्पन्न करने वाली वर्षा को अपनी लीला (माया) के समान रोकना चाहा।[2]

इस श्लोक में लीला शब्द का दो बार प्रयोग हुआ है। अतः कथितपदत्व दोष है। वस्तुतः इस श्लोक में 'जातलीलाम्' पद समीचीन नहीं है। कुछ तालपत्र पुस्तकों में उपलब्ध 'स्वलीलामिव वर्णवेलाम्' पाठ ही

---

1. साहित्यदर्पण-सप्तम परि० सन्धिविश्लेष दोष विवेचन
2. पयोदलक्ष्यप्रहिताग्रहस्तां कृष्णः स्वनेत्रे इव चन्द्रसूर्यौ।
तिरोदधानां प्रतिरोद्धुमैच्छत्स्वैरी स्वलीलामिव जातलीलाम्।। या० 5-48

अधिक उपयुक्त है, अतः उसे ही स्थान दिया जाना चाहिए।[1] इससे न केवल कथित पदत्व दोष का परिहार होगा अपितु विशेष्य पद वर्षाकाल का अध्याहार भी नहीं करना पड़ेगा।

5. रसों का स्वशब्दवाच्यत्व

किसी रस का उसके वाचक पद से अर्थात् सामान्यवाचक 'रस' शब्द से या विशेषवाचक श्रृंगारादि शब्द से कथन करना दोश माना जाता है। इसे ही रसों का स्वशब्दवाच्यत्व दोष कहते हैं।

रुक्मिणीहरण से पूर्व कृष्ण पर रुक्मिणी द्वारा किये गये दृष्टिपात् का वर्णन करते हुए वेदान्तदेशिक कहते हैं कि - परस्पर मिले होने के कारण अदृश्यभेद वाले त्रिविध कमलों (कमलकुमुदेन्दीवर) की आभा सदृश आभा से युक्त, श्रृंगारानुकूल दृश्यमान (जलसवलितत्यादि) गुण चेष्टाओं वाले रुक्मिणी के कटाक्षों से समय पर प्रकट हुए कृष्ण पर स्वयंवर माला बना दी गयी।[2] धनमालादि से अलंकृत, निसर्गसिद्धस्वभाव, श्रृंगारवीराद्भुतरसमय चरितों से सम्पृक्तरूप वाले, रमणीय, अन्य (परमानन्द रूप) रसस्वरूप कृष्ण रुक्मिणी के द्वारा (दर्शन से) उपभुक्त हुए।[3]

---

1. स्वलीलामिव वर्षवेलाम् इत्येकस्मिन् तालपत्रपुस्तके पाठोदृश्यते। टीका या0 5-68
2. अलक्ष्यभेदत्रिविधाम्बुजाभैरालक्ष्यश्रृंगारगुणानुबन्धैः।
   स्वयंवरस्राग्भिरभावि तस्याः कालोदिते कंसरिपौ कटाक्षैः।। या0 13-7
3. सवैजयन्त्यादिविभावशाली निर्व्याजनिष्पन्ननिजानुभावः।
   श्रृंगारवीराद्भुतचित्रितात्मा रम्यस्तया निर्विविशे रसोऽन्यः।। या0 13-8

इन दोनों श्लोकों में रसों का विशेषवाचक शब्दों से कथन हुआ है। प्रथम श्लोक में 'श्रृंगार' तथा द्वितीय श्लोक में 'श्रृंगारवीराद्भुत' शब्द प्रयुक्त हुए हैं, अतः यहां पर उक्त दोष माना जायेगा।

यहां पर विचारणीय विषय यह है कि रसों का स्वशब्दवाच्यता सर्वत्र दोष है या कुछ विशेष स्थलों पर ही? वस्तुतः रसों का स्वशब्देन कथन वहीं दोष माना जायेगा जहां पर उनकी अनुभूति करानी हो, किन्तु इसके लिए विभावानुभावादि का सम्यक् प्रतिपादन न करके उन रसों का शब्द से कथन कर दिया जाय। रस शब्दवाच्य नहीं है, वह तो विभावादि के संयोग से सहृदय के हृदय में उत्पन्न होने वाली अनुभूतिमात्र है। कहने का तात्पर्य यह है कि रसों का स्वशब्द से कथन करने पर रस की अनुभूति ही नहीं होगी अतः उनका स्वशब्दवाच्यत्व दोष माना जाता है। परन्तु ऐसे भी स्थल आते हैं, जहां उन रसों की अनुभूति कराना अभीष्ट नहीं रहता अपितु अनुवादमात्र अपेक्षित रहता है। इन स्थानों पर उन रसों का शब्दमुखेन कथन ही ठीक रहता है, विभावादि प्रतिवादन द्वारा अभिव्यंजना नहीं। वेदान्तदेशिक के पूर्वश्लोक में 'श्रृंगार' तथा उत्तर श्लोक में 'श्रृंगारवीराद्भुत' रसों की प्रतीति कराना इष्ट नहीं है, अपितु उनका कथनमात्र अपेक्षित है। अतः यहां पर शब्द से कथित होने पर भी उक्त दोष नहीं माना जाना चाहिए। यद्यपि इन श्लोकों में श्रृंगाररस की ही चर्वणा होती है, किन्तु उसमें श्रृंगारादि शब्दों का कथा पोषक या बाधक नहीं है, इसके लिए कवि ने अपेक्षित विभावानुभावादि सामग्री प्रस्तुत की है जिसके द्वारा रस की चर्वणा होती है। कहने का आशय यह है कि

अनुवादमात्र के लिए प्रयुक्त होने तथा स्वरसानुभूति के लिए अपेक्षित न होने के कारण उक्त रसों की स्वशब्दवाच्यता को दोष नहीं कहा जा सकता है।

षष्ठम - अध्याय

यादवाभ्युदय महाकाव्य का दार्शनिक पक्ष

अध्याय-6

'यादवाभ्युदय महाकाव्य का दार्शनिक पक्ष'

श्री वेदान्तदेशिक के काव्य दार्शनिक विवेचनों से परिपूर्ण हैं। 'संकल्प सूर्योदय' नाटक की तो रचना ही उन्होंने आचार्यो (रामानुजादि) के सिद्धान्तों को अपनी वेदान्त विहारिणी बुद्धि द्वारा परिष्कृत करके नाट्यमुखेन प्रकाशित करने के लिए की है[1] जो कि न केवल शान्ति चित्त सन्तों को ही प्रिय है, अपितु संसारी प्राणियों को भी अभीष्ट है।[2] विशिष्टाद्वैत दर्शन उनका प्रतिमाप विषय है। काव्यों की रचना प्रारम्भ करने के पूर्व वे न केवल अन्यान्य विधाओं का अध्ययन कर चुके थे, अपितु तीस बार शारीरिक भाष्य का अध्यापन भी कर चुके थे।[3] वे न केवल विशिष्टाद्वैत दर्शन के महापण्डित थे, अपितु सभी दार्शनिक सिद्धान्तों पर दुर्वादिकृत आक्षेपों के प्रशमन में अप्रतिहत बुद्धि भी थे।[4] वे श्री रंगराज भगवान् की दिव्याज्ञा से वेदान्ताचार्य पद पर अधिष्ठित हो चुके थे, कवि तार्किक सिंह विरुद् से विभूषित होकर शिष्यों द्वारा विजय वैजयन्ती से दशों दिशाओं को अलंकृत कर चुके थे।[5] इस प्रकार का प्रकाण्ड पण्डित संसार मार्ग में गमनागमन से

---

1. श्रुतिविहारजुषा थिया सुरमितामिह नाटक पद्धतिम्।
मुहुरवेक्ष्य विवेकमुपध्नयन् मतमपश्चिमयामि विपश्चिताम्।। (सं0सू0 1-7)
2. प्रयोगश्चित्रोऽयं भवरसमुजामप्यमिमतः। (सं0सू0 1-9)
3. विंशत्यव्दे श्रावितनानाविधविधः त्रिंशद्वारं श्रावित शारीरकभाष्यः (सं0सू0 1-15)
4. सर्वतन्त्रसंकट प्रशमनविशंकटमतिः (सं0सू0पृ0 38 आड्यार एडीशन)
5. श्रीरंगराजदिव्याज्ञालव्थवैदान्ताचार्य पदः कवितार्किक सिंह इति प्रख्यात
गुणसमाख्यः छात्र जननिबद्धजैत्रध्वजप्रसाधितदशविशासौधः। (सं0सू0पृ0 38 आड्यार ला0 एडीशन)

पीड़ित त्रिवर्गनिष्ठ कोमल शेमुषीक प्राणियों की आति निवारण के लिए दयार्द्र होकर काव्यमुखेन वेदान्तामृतपान कराने के लिए प्रवृत्त हो तो क्या आश्चर्य?[1]

उनके समय तक अद्वैत दर्शन समस्त भारतीय दर्शन के चूड़ापद पर अधिष्ठित हो चुका था, अतः उन्होंने अद्वैत दर्शन का ही विशेष खण्डन करके स्वसिद्धान्त स्थापन द्वारा विशिष्टाद्वैत की मूर्धन्यता स्थापित की। संक्षेप में उन्होंने चावृकि, जैन, बौद्ध, न्याय-वैशेषिक, सांख्ययोग मीमांसा, पाशुपत आदि समस्त मतों का भी खण्डन किया है। प्रस्तुत अध्याय में सर्वप्रथम श्री वेदान्तदेशिक द्वारा प्रतिपादित विशिष्टाद्वैत दर्शन पर विचार करके तदनन्तर संक्षेप में अन्य दार्शनिक सिद्धान्तों के विषय में आचार्य वेदान्तदेशिक के मत का विवेचन करना समीचीन होगा। यद्यपि यह कहा जा सकता है कि काव्यों का अध्ययन प्रस्तुत करते समय दार्शनिक सिद्धान्तों के विवेचन की क्या आवश्यकता है? किन्तु यदि विचार किया जाय तो वेदान्तदेशिक के काव्यों के विषय में उपर्युक्त कथन चरितार्थ नहीं होगा। उनके काव्यों में न केवल दार्शनिकता झलकती है, अपितु दर्शन की स्थापना के ही लिए उन्होंने काव्य को माध्यम बनाया है। सामान्य जन दर्शन के गूढ़रहस्यों को न तो समझना चाहते हैं और न समझ ही सकते हैं। उन्हें सरल एवं सुबोध रीति से दार्शनिक तत्त्वों को समझाने के लिए ही वेदान्तदेशिक ने काव्य को साधन बनाकर नाट्यमुखेन लोक के समक्ष प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया। अतः अन्य कवि कृतियों के समान आचार्य

---

1. ललितमसां प्रीत्यै........जननपदवीजजड्0घालार्तिच्छिदानुगुणीभवन्। (सं0सू0 1)

वेदान्तदेशिक के काव्यों में दार्शनिक विवेचन की उपेक्षा नहीं की जा सकती है। यदि यह कहा जाय कि दार्शनिक विवेचन किये बिना उनके काव्यों का समीक्षात्मक अध्ययन अपूर्ण ही रह जायेगा तो अनुचित न होगा। इस दार्शनिक विवेचन में विस्तार के भय से तथा शोध प्रतिपाथ विषय न होने के कारण दार्शनिक ग्रन्थों को माध्यम न बनाकर केवल काव्यों का ही अवलम्बन लिया जायेगा।

विशिष्टाद्वैत दर्शन का विवेचन करने से पूर्व इस शब्द भी विचार कर लेना उपयुक्त है। द्वयोर्भाव: द्विता द्वितैव द्वैतम् अर्थात् भेद:। न द्वैतम् अद्वैतम् अभेद इत्यर्थ:। विशिष्टस्य अद्वैतम् विशिष्टाद्वैतम्। अर्थात् समस्त चेतनाचेत विशिष्टस्य ब्रह्मण: एकत्वम् इस अभ्युपगम के कारण रामानुजीय मत को विशिष्टाद्वैत कहा जाता है। वस्तुत: यह सिद्धान्त भेद मूलक है। चेतन (जीव) अचेतन (प्रकृति) और ईश्वर तीन तत्व हैं किन्तु समस्त चेतनाचेतन विशेषणों से विशिष्ट होने के कारण ब्रह्म एक ही तत्व माना जाता है। इसमें विशेषण और विशेष्य तथा विशेषणों में परस्पर अत्यन्तिक भेद रहने पर भी विशिष्ट वस्तु की एकता एवं प्राघान्य इत्यादि की विवक्षा करके शास्त्रों में एकत्व व्यवहृत होता है तथा ब्रह्मैतर का निषेध किया जाता है। ऐसा न मानने पर सभी प्रमाणों में विरोध उपस्थित होने लगेगा।[1]

कुछ विद्वान विशिष्टं च विशिष्टं च विशिष्टे, (इसमें विशिष्टे पद से सूक्ष्मचिवचिद्विशिष्टं ब्रह्म और स्थूलचिदचिद्विशिष्टं ब्रह्म का बोध होता है)

---

1. अशेष चिदचित्प्रकारं ब्रह्मैकमेव तत्त्वम्। तत्र प्रकारप्रकारिणो: प्रकाराणां च मिथोऽत्यन्तभे्देऽपि विशिष्टेयादिविलक्षणैकत्वव्यपदेशस्तवितर निषेधश्च। अन्यथा समस्तप्रमाणसंक्षेपप्रसंगात्।
न्यायसिद्धांजन, पृ0 2, 3

विशिष्ट्योरद्वैतम् विशिष्टाद्वैतम् इत्यादि विग्रह करते हैं। इसके अनुसार सूक्ष्मचिदद्विशिष्ट ब्रह्म और स्थूल चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म की एकता प्रतिपादित होने के कारण विशिष्टाद्वैत कहा गया है। इस तरह विग्रह करने में कोई विशेष स्वारस्य नही है, पूर्वविग्रह (विशिष्टस्य अद्वैतम्) ही अधिक समीचीन है, क्योकि एकमात्र ब्रह्म सत्य है तदतिरिक्त सब कुछ मिथ्या है ऐसा कहने वाले अद्वैती वेदान्ती ब्रह्म में चिदचिद्विशिष्टता नही स्वीकार करते है, जगत् एवं ब्रह्म की सत्यता को स्वीकार करने वाले द्वैतवादी वेदान्ती भी चेतनाचेतन तथा ब्रत में पाल्यपालक भाव सम्बन्ध के अतिरिक्त ऐक्य कथन योग्य कोई सम्बन्ध विशेष नहीं स्वीकार करते हैं। अतः उनके द्वारा भी ब्रह्म में चिदचिद्विशिष्टता नहीं स्वीकार की जाती। सिद्धान्त में तो चिदचिदात्मक प्रपंच और ब्रह्म की सत्यता स्वीकार करके उनमें ऐक्यकथनोपपादक शरीरशरीरिभावरूप सम्बन्ध विशेष स्वीकार करने के कारण, जिस प्रकार लोक में शरीर और जीवात्मा में अत्यन्त भेद होने पर भी चैत्र एक है इत्यादि व्यवहार देखा जाता है, उसी प्रकार यहां भी, चिदचिच्छरीरक ब्रह्म का एकत्व कथन और परस्पर स्वरूप भेद उपपन्न होता है। इस प्रकार लोक में दृष्टान्त मिलने से निरूपण में सौष्ठव होने के कारण विशिष्टस्य अद्वैतम् विशिष्टाद्वैतम् कथन ही उपयुक्त हैं।

श्री वेदान्तदेशिक के काव्यों में प्रतिपादित दर्शन पर विचार करने के पूर्व यह आवश्यक है कि विशिष्टाद्वैत दर्शन के मूलभूत सिद्धान्तों को संक्षेप में समझ लिया जाय। एक ही सिद्धान्त को मानने वाले आचार्यो के मतों में भी अल्पाधिक भेद प्रायः देखा जाता है। अतः इस दर्शन के

प्रमुख संस्थापक श्री रामानुजाचार्य विरचित ग्रन्थ 'वेदार्थ संग्रह' और ब्रह्मसूत्र भाष्य (श्रीभाष्य) के आधार पर प्रमुख मान्यताओं का ज्ञान प्राप्त करना अधिक समीचीन होगा।

जैसा कि ऊपर कहा गया है कि समस्त चेतनाचेतन विशेषणों से विशिष्ट ब्रह्म ही एकमात्र तत्त्व है। वही प्रमेय है, अतः उसका स्वरूप जान लेना आवश्यक है। प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से प्रतीत होने वाला यह प्रपञ्च चेतन और अचेतन पदार्थो से परिपूर्ण है। अन्तर्यामी भगवान् ही चेतनाचेतनमय प्रपञ्च की सृष्टि, स्थिति और प्रलय करने वाले तथा बद्ध चेतनों को संसार से छुड़ाकर आनन्दमय मोक्ष प्रदान करने वाले हैं। सभी दोषों से दूर रहने तथा आश्रितों का कल्याण करते रहने के कारण सभी पदार्थो से विलक्षण है। असीम और पराकाष्ठा पर पहुंचे असंख्य कल्याण गुणों से युक्त हैं, सर्वात्मा, परब्रह्म और परज्योति कहे जाते हैं, परतत्त्व, परमात्मा, सत्, भगवान्, नारायण, पुरूषोत्तम आदि विविध रूप में उपनिषदों में वर्णित हैं। भगवान् ही सब के अन्दर रहकर सबका नियमन करते हैं। अतः सर्वेश्वर एवं अन्तर्यामी कहलाते हैं।[1] वह जगत् के निमित्त तथा उपादान कारण हैं।[2] परं ब्रह्म ही सर्वज्ञ, सर्वशक्ति, सत्यसंकल्प, अवाप्त समस्त काम होते हुए भी लीलार्थ विचित्र अनन्त चिदचित् मिश्र जगत् रूप

---

1. एवं विधचिदचिदात्मकप्रपंचस्योद्भवस्थितिप्रलयसंसारनिवर्तनैकहेतुभूतः समस्तहेय प्रत्यजीक्तया (अनन्त) कल्यार्णकतानतया चस्वेतरसमरतवस्तु विलक्षणस्वरूपो नवधिकातिश्यासंख्येयकल्याण गुणगणः सर्वात्मपरब्रह्मपरज्योतिः परतत्त्व परमात्मसदादिशव्दमेदैर्निखिलवेदान्तवेद्योभगवन्नारायणः पुरूषोत्तमः इत्यन्तयामि स्वरूपम्। वेदार्थ संग्रह,पृ017
2. स्वयमेव जगदुपादानं जगदन्निमित्तं च (वे0सं0, पृ0 38)

में ही बहुत हो जाऊँ इसलिए वैसा उत्पन्न होऊँ इत्यादि संकल्प करके अपने एक वंश से ही विपदादि भूतों की सृष्टि करता है।[1] शरीरात्मभावकों लेकर प्रपञ्च का ब्रह्मात्मकत्व है।[2] प्रलय एवं सृष्टि-काल में ब्रह्मचेतनाचेतन विशिष्ट होकर ही रहता है।[3] फिर भी परमात्मा निर्विकार ही रहता है, क्योंकि प्रकृतिविशिष्ट परमात्मा में विशेषणांश के रूप में रहने वाली प्रकृति में सब तरह के विकार होते रहते हैं, विशेष्यांष के रूप में अवस्थित परमात्मा में कोई भी विकार नहीं लगता। इसी प्रकार जीवविशिष्ट परमात्मा में विशेष्यांष बने हुए जीवात्मा में सब तरह के दु:ख इत्यादि दोष होते हैं, किन्तु विशेषांक परमात्मा नियन्ता निर्दोष, सर्वकल्याणगुणकार और सत्यसंकल्प ही रहता है।[4]

भगवत्स्वरूप जान लेने के अनन्तर आत्मा और शरीर का लक्षण समझ लेना आवश्यक है। जिन दो पदार्थो में, एक-दूसरे का आश्रय लेकर ही रहता है, दूसरा आधार बनकर उसकी स्थिति बनाये रखता है, उनमें आमेघ बनने वाला पदार्थ आधार को छोड़कर नहीं रह सकता। उन दोनों पदार्थो में आधार एवं धारक बनने वाला चेतन आत्मा कहा जाता है,

---

1. परं ब्रह्मैव सर्वज्ञं सर्वशक्ति सत्यसंकल्पमवाप्तसमस्तकाममपि लीलार्थ विचित्रानन्त चिदचित्मिश्रजभद्रूपेणाहमेव बहुस्यां तदर्थ प्रजायेय इति स्वयमेव संकल्प्य स्वाशकदेशादेव विपदाविभूतानिसृष्ट्वा। (वे0सं0, पृ0 38)
2. शरीरात्मभावेन च तदात्मकत्वम् (वे0सं0, पृ0 45)
3. तस्ये इवस्स्य कार्यतया कारणतया च नानासंस्थानसंस्थितस्य संस्थानतया चिदचिद्वस्तुजातमवस्थितमिति। (वे0सं0, पृ0 141)
4. प्रकृतिप्रकारसंस्थिते परमात्मनि प्रकारभूतप्रकृत्यशेविकार: प्रकार्यशे चाविकार:, एवमेव जीवप्रकार संस्थिते परमात्मनि प्रकारभूतजीवांशे सर्वे चापुरूषार्थाः प्रकार्यशे नियन्ता, निरवधः सर्वकल्याणगुणाकरः सत्यसंकल्प एव। (वे0सू0पृ0 149)

उसके द्वारा सदा धृत रहने वाला पदार्थ-चाहे वह चेतन हो या जड़-शरीर कहा जाता है। इनमें शरीरात्मभाव सम्बन्ध माना जाता है। आत्मशरीर भाव का लक्षण पृथक्सिद्ध्यनहाधाराधेयभाव, नियन्तृनियाम्यभाव, और शेषिशेषभाव है। आत्म शब्द की यह व्युत्पत्ति है कि 'आप्नोतीति आत्मा' अर्थात् व्यापने वाला आत्मा है। जब तक बने रहें तब तक आधेय नियाम्य एवं शेष बनकर रहने वाले द्रव्यों को जो आधार, नियामक एवं शेषी बनकर अपनाता रहता है, उनमें व्यापक होकर रहता है, वह आत्मा है। जो जब तक बना रहे तब तक आधेय नियाम्य एवं शेष बनकर दूसरे बनकर दूसरे को छोड़ने में असमर्थ होकर दूसरे का आश्रय लेकर रहता है वह द्रव्य शरीर कहा जाता है।[1]

त्रिगुणात्मिका दैवी माया कैपंजे में फंसा हुआ जीव संसार में गमनागमन का क्लेश भोगता रहता है। कर्मवृत्त विचित्रगुणमयी प्रकृति संसर्ग रूप संसार से जीवात्मा के मुक्त होने के लिए भगवच्छरणागति के बिना अन्य कोई उपाय नहीं है।[2] इसे ही विस्तार से श्री रामानुज कहते हैं कि जो साधक निष्काम भाव से अपार सुकृतों को करता रहता है, उनसे अनेक जन्मों में किये गये पापों की राशि नष्ट हो जाती है। उस साधक को संसार से विरक्ति एवं श्री भगवान् को प्राप्त करने के लिए उत्कण्ठा होती है। वह मोक्ष साधन को निर्विध्न समाप्ति के लिए सर्वप्रथम भगवान् के

---

1. अयमेव चात्मशरीरभावः पृथक्सिद्ध्यनहाधाराधेयभावः नियन्तृनियाम्यभावः, शेषि शेषभावश्च, सर्वात्मनां धारतया नियन्तृतया शेषितया च आप्नोतात्मीस्ना, सर्वत्मना धेयतया नियायतया शेषतया च अपृथक्सिद्धं प्रकारभूतमित्याकारः शरीरमिति चोच्यते। (वे0सं0, पृ0 159)
2. तस्यैस्यात्मनः कर्मकृतविचित्रगुणमयप्रकृति संसर्गरूपात्संसारन्मोक्षी भगवतत्प्रपत्तिमन्तरेण नोपपयते। (वे0सं0, पृ0 167)

चरणारविन्दों की शरण में चला जाता है। शरण में जाते ही वह साधक भगवान् का अभिमुख्य प्राप्त कर लेता है। वह सदाचार्य की शरण में जाकर उनका उपदेश सुनता है। सदाचार्य के उपदेश से अधीत एवं अनधीत समस्त शास्त्रों का अर्थ यथार्थ रीति से हृदय में उतर जाता है। फिर प्रतिदिन उसके आत्म गुण-शम, दम, तप, शौच, क्षमा, आर्जव, भयस्थानविवेक, अभयस्थानविवेक, दया, अहिंसा आदि विकसित होने लगते हैं। वह शास्त्र निषिद्ध कर्मो को त्याग देता है, वर्ण और आश्रम के अनुसार नित्य और नैमित्तिक कर्मो को श्री भगवान् का आराधन समझकर करता रहता है। इनमें उसकी निष्ठा बढ़ती रहती है। वह श्री भगवान् के चरणारविन्दों में आत्मीय पदार्थो को समर्पित कर देता है। भगवान् की भक्ति से प्रेरित होकर वह साधक सर्वदा भगवान् की स्तुति करता रहता है, भगवान् का गुणानुवाद उसका स्वभाव बन जाता है। वह भगवान् का स्मरण, नमस्कार, वन्दन करता ही रहता है। भगवान् के लिए पुष्पोद्यानादि निर्माणार्थ प्रयत्न करने में उसे आनन्द आता है। श्री भगवान् का कीर्तन, भगवत्कल्याण गुणों का श्रवण एवं प्रवचन, श्री भगवान् का निरन्तर ध्यान, अर्चन और प्रणामादि करने में वह अपने को कृतकृत्य समझता रहता है। इस प्रकार भक्ति से प्ररित होकर साधनानुष्ठान करने वाले के प्रति परमकारूणिक श्रीमन्नारायण प्रसन्न हो जाते हैं। उनके अनुग्रह के प्रभाव से साधक के अन्त:करण में अनादिकाल से रहने वाला रजस्तमोगुणरूपी अन्धकार सदा के लिए नष्ट हो जाता है। चित्त की मलिनता दूर होने पर वह साधक निर्मलचित्त से भगवान् के दिव्यात्म स्वरूप का निरन्तर

अनुसन्धान करने लगता है। यह अनुसन्धान ही समाधि है। यह स्मरण धारा साधक को अत्यन्त प्रिय लगती है, वह इसे छोड़ना नहीं चाहता। यह स्मरण धारा बढ़ते बढ़ते इतना विशद बन जाती है कि प्रत्यक्ष के समान रूप धारण कर लेती है। ध्यान के बाद होने वाले इस प्रेममिश्रित प्रत्यक्षसमानाकार वाली विशदतम समाधिरूपिणी पराभक्ति के द्वारा ही श्री भगवान् प्राप्त होते हैं।[1] उपर्युक्त साधना ही भगवत्प्राप्ति (मोक्ष) का उपाय है।

विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्मा रूद्रादि देव भी जीव हैं, क्योंकि वे भावनाश्रय-कर्मभावना अर्थात् कर्म करने में उद्योग, ब्रह्म भावना अर्थात् ईश्वरोपासन करने में उपयोग और उभयभावना से सम्बद्ध है तथा कल्याणकारित्वायोग्यता युक्त हैं।[2] उनमें अन्तर्यामी रूप से नारायण अवस्थित है।[3]

---

1. सोर्य परब्रह्मभूतः पुरूषोत्तमो निरतिशयपुण्यसंचयक्षीणाशेष जन्मोषचितपापराशैः परमपुरूषचरणारविन्दशरणागतिजनिततदामिमुख्यस्य सदाचार्योपदेशोपवृंहित शास्त्राधिगतत्त्वयाधात्म्यावबोधपूर्वकाहरध्रूपचीयमानशमदमतपश्शौचक्षमार्जवमया भयस्थानविवेकदया हिंसाधात्मगुणोपैतस्य वर्णाश्रमोचित परमपुरूषाराधनवेषनित्यनैमिच्कि‍कर्मोपसंहृतिनिषिद्धपरिहारनिष्ठस्य परमपुरूषरणारविन्द युगलन्यस्तात्मात्मीयस्य तद्मविकारितानवरतस्तुतिस्मृतिनमस्कृति वन्दनयतनकीर्तनगुणश्रवणवचनध्यानार्चनप्रणामाविप्रीतपरमकारूणिकपुरूषोत्तमप्रसादविध्वस्त स्वान्तध्वान्तस्यानन्यप्रयोजना नवरतनिरतिशयप्रियविशवतमप्रत्यक्षतापन्नानुथ्यानरूपभवत्यैकलभ्यः। (वे0सं0,पृ0 190)

2. हिरण्य गर्भादीनां भावनात्रयान्वयादशुद्धत्वेन शुमाश्रयत्त्वानर्हतोपपादनात क्षेत्रज्ञत्वं निश्चीयते। (वे0सं0,पृ0 249)

3. रूद्रस्य ब्रह्मणश्चान्येषां च देहिनां परमेश्वरी नारायणोऽन्तरात्मतयाऽवस्थित इति। (वे0सं0, पृ0 226)

ब्रह्मा और शिव भी भगवान् के द्वारा दिखाये गये मार्ग पर चलते हुए सृष्टि और संहार करते हैं।[1]

इस प्रकार संक्षेप में रामानुजीय दर्शन पर विचार कर लेने के अनन्तर काव्य प्रतिपादित उसके स्वरूप का विवेचन अपेक्षित है।

यादवाभ्युदय महाकाव्य के प्रथम श्लोक-वन्देवृन्दावनचरं वल्लीजनवल्लभम्। जयन्ती सम्भवं धाम वैजयन्तीविभूणम् में श्रीकृष्ण की स्तुति की गयी है। इसमें चार विशेषणों के द्वारा सुखसेव्योपयुक्त भगवान् के चारों गुण-वात्सल्य, सौशील्य, सौलभ्य और स्वामित्व प्रकट किये गये हैं। गोवत्सानुचर्यानुरूप वृन्दावनसंचार प्रतिपादक प्रथम विशेषण के द्वारा तिर्यग्जातिसाधारण उनका वात्सल्य व्यंग्य होता है। निखिलवनिताजनमूर्धन्य श्री महालक्ष्मी के निरन्तर आश्लेष से तृप्त कृष्ण का पामरजाति की स्त्रियों का संश्लेष सौशीत्यकृत ही है। तीसरे विशेषण से अवताररूप कथन के द्वारा सौलभ्य व्यंग्य होता है। चतुर्थ विशेषण से मायारूप वैजयन्ती से भूषित होने के कारण मायाधिष्ठानजगत्कारण ब्रह्मा की अभिव्यक्ति से स्वामित्व व्यंग्य होता है।

इसी प्रकार यदेकैकगुणप्रान्ते[2] से भगवान् में अपरिमेय गुणशालित्व सूचित होता है, जो कि सिद्धान्तनुकूल है। अनन्याधीन महिमा, स्वाधीन पर वैभव और दयाधीन विहार आदि[3] विशेषणों से भगवान् को सकल गुणों से

1. अन्तरात्मतया वस्थितनारायणदर्शितपथौ ब्रह्मरूद्रौसृष्टिसंहारकार्य करावित्यर्थः (वे0सं0,पृ0 237)
2. यादवाभ्युदय 1-2
3. यादवाभ्युदय सर्ग 1-44

विशिष्ट सूचित किया गया है। फिर गुणरत्नौध[1] से कल्याणगुर्णकतानत्व दिखाया गया है। निस्माभ्यायिका गुणा:[2] से भगवान् को असीम गुणशाली बताया गया है। इस प्रकार सामान्य रूप से भगवान् को अनन्त गुणाधार बताकर उनके अन्याय गुणों का अलग से भी स्थापन किया गया है।

भगवान् देशकालवस्तु से अपरिच्छिन्न है। वह कर्तुमकर्तुमन्वयाकर्तुम समर्थ है। वह सम्पूर्ण सृष्टि का कारण होते हुए स्वयं किसी के कार्य नहीं है। यादवाभ्युदय के क्रीडातूलिकया स्वस्मिन् कृपारूषितया स्वयम्। एकोविश्वमिदं चित्रं विभु: श्रीमानजीजनत्। श्लोक में स्वयं स्वस्मिन् के द्वारा भगवान् में निमित्तोपादान (उभयविध) कारणता दिखायी गयी है। उनके समाश्यधिकाराहित्य को बताने के लिए अनेक कोटि ब्रह्माण्ड रूप में घटित इस प्रपंच के निर्माण में सहायान्तर निरपेक्षता एक पद से दिखायी गयी है। इसी प्रकार विभु पद से सर्वशक्तित्व, क्रीडातूलिकया से नित्यावाप्तसमस्तकाम भगवान् का प्रयोजनाभाव होने पर भी सृष्टि कर्तृत्व और कृपारूषितया पद के द्वारा निखिल हेयप्रत्यनीकसमरतकल्याणगुणैकतानत्व दिखाया गया है। ईश्वर जगत् की सृष्टि लीलार्थ करते हैं। वे स्वयं सब कुछ करने पर भी जगत् की सृष्टि, स्थिति और प्रलय क्रीड़ा में किसी को निमित्त बना लेते हैं। वा वस्तुत: ईश्वर ही जगत् के निमित्तोपादनकारण है। वह विश्व को स्वरूपत: और विग्रत: धारण करते हैं। वह सब के भीतर और बाहर विद्यमान हैं। भगवान के और बाहर जगत् है तथा जगत के भीतर और बाहर भगवान्

1. यादवाभ्युदय सर्ग 1-45
2. यादवाभ्युदय सर्ग 1-51

है, किन्तु हृदय में विद्यमान रहने पर भी संसारासक्त प्राणियों को भगवान् दिखायी नहीं पड़ते। वह सभी प्राणियों के तारक हैं।[1] वह ही शरणागतों के एकमात्र रक्षक हैं।[2] शरण में आये हुए प्राणी की रक्षा स्वयं करते हैं। वह स्वयं रक्ष्य को खोजते रहते हैं। भगवान् जीवों के उद्धार के लिए तत्पर रहते हैं। इस सुख-दुःखमयी नदी में गिरे हुए जीव को ऊपर उठाने (मुक्त करने) पर ईश्वर बहुत आनन्दित होते हैं। यह अपने भक्तों के प्रति सदैव जागरूक रहते हैं।[3] भक्तों के हृदय में उत्पन्न अभिमान को तुरन्त नष्ट कर देते हैं।[4] भक्तों पर विपत्ति पड़ने पर नारायण स्वयं अवतार लेते हैं।[5] उनका अवतार अपार करूणा के कारण सब के कल्याण के लिए होता है। भगवदया भक्तों के दोषों की उपेक्षा कर देता है।[6] भगवद्भक्त न तो विपत्तियों से डरते हैं[7] और न भगवदधीन प्राणियों का परामव ही होता है।[8]

प्रकृति जीव और ईश्वर रूप तीन तत्त्व प्रत्यक्ष आगमादि प्रमाण से सिद्ध है। किन्तु प्रकृति और जीव (निखिल जगत्) परमात्मा के शरीर हैं, परमात्मा शरीरी है अत: उनमें शरीर शरीरी भावैन अभेद है, स्वरूपैक्य नहीं है। जीव स्वभावत: निलेप है। मोहवश वह अनन्त भोगों का अनुभव

---

1. तारकं सर्वजन्तूनाम्। यादवाभ्युदय 1-59
2. त्वदेवशरणान्षं त्वं शरणागतजीवन:। यादवाभ्युदय 1-63
3. विनतत्राणदीक्षितम्। यादवाभ्युदय 1-86
4. यादवाभ्युदय 14-22
5. यादवाभ्युदय 7-97
6. यादवाभ्युदय 16-45
7. यादवाभ्युदय 16-82
8. मदाशामनवज्ञातुः परिमुत्या न मुयते। यादवाभ्युदय 1-93

करता है।[1] भगवान् जीवों को उनके विषय कर्म-भेद के अनुसार बन्ध जीव, सृष्टि, स्थिति, संहार और मोक्ष में नारायण के अधीन है। अतः नारायण को स्वामी समझना तथा अपने को उनका दास मानना है। जीव का स्वरूप है। जीव को समझना चाहिए कि समस्त चेतनाचेतन शरीर मुक्ति के साक्षात् उपाय और मुक्तों के उपेय श्रीमन्नारायण हमारे स्वामी हैं। उसे अपने में नीचानुसन्धान तथा भगवान् में अनन्तगुणानुसन्धान करना चाहिए। उन्हीं के क्रीडामात्र रूप जल के सेचन से सहकृत होने पर ही कर्मकन्द विचित्र प्रपंञ्च रूप अंकुरों को उत्पन्न करते हैं।[2]

सिद्धान्त में कहा गया है कि ब्रह्मारूद्रादि जीव हैं। वे नारायण के अनुग्रह से तत्तत्पदों पर अधिष्ठित हैं। दस सहस्र युग तक तप करके ब्रह्मा ने अपना पद प्राप्त किया।[3] सर्वमेघ योग में अपनी आहूति देकर शिव ने देवाधिदेव पद प्राप्त किया।[4] यज्ञ भाग को ग्रहण करने वाले इन्द्रादि देवों ने विष्णु के ध्यानयज्ञ द्वारा उच्च पद प्राप्त किया। स्वयम्भूः ब्रह्मा भी नारायण के अनुग्रह निग्रह से प्रयुक्त सुख दुःख प्राप्त करते हैं।[5] भगवत् प्रेरणा से ही वायु बहती है, आकाश में नक्षत्राण चलते हैं, सूर्य प्रकाश करते हैं, समुद्र पृथ्वी को कँपा देता है, पृथ्वी चराचर को धारण करने में

---

1. यादवाभ्युदय 15-13
2. यादवाभ्युदय 1-50
3. युगकोटिशताम्युतानि वेधाः स्वपदं प्राय यमेकमर्चयित्वा। यादवा0 15-62
4. स च कश्चसर्वमेघयंज्वा हविरात्मद्वयमात्मनैव हुत्वा यत एव वभुव देव देवः। यादवाभ्युदय 15-64
5. यदनुग्रहनिग्रह प्रयुक्ते सुखदुः रवै श्रणुमरस्वयम्भुवौऽपि। यादवाभ्युदय 15-28

समर्थ होती है। वेदद्रुम भी भगवान् के अनुग्रह से पुष्पित होकर प्राणियों को अभीष्ट फल देते हैं।[1]

मुक्ति प्राप्त करने का साधन भक्ति या प्रपत्ति है,[2] किन्तु भक्ति और प्रपत्ति भी भगवत्कृपा के बिना सम्भव नहीं है।[3] भगवान् के चरणों में एकमात्र अनन्य दृढ़भक्ति ही मुक्ति का साधन है।[4] इसीलिए मुक्ति को केवल भगवदधीन कहा गया है।[5] भगवत्कृपा के बिना केवल आत्मचिन्तन से चित्त का निरोध सम्भव नहीं है। भगवत्कृपा प्राप्त करने के लिए शरणागति आवश्यक है। शरणागति के अनन्तर किसी प्रकार का भय नहीं रह जाता।[6] भगवान् की शरणागति किसी समय की जा सकती है, इसके लिए अनुकूल देशकाल की प्रतीक्षा करने की आवश्यकता नहीं है।[7] शरण में चले जाने पर जीव निर्भय हो जाता है। उसकी रक्षा आदि का भार भगवान् पर हो जाता है।[8] किसी अवस्था में एक बार भी शरण में आये हुए प्राणी की रक्षा स्वयं भगवान् करने लगते हैं।[9] भगवत्परिगृहीत को न कोई मार सकता है और न हन्तुमिष्ट को कोई बचा सकता है।[10] समस्त भयों का निवारण करने वाले नारायण अनन्य शरण हैं। भगवत्शरण में

---

1. त्वनुग्रहपुष्पितः प्रजानां फलमिष्टं निगमद्रुमः प्रसूते। यादवा0 15-22
2. यादवाभ्युदय 15-58
3. यादवाभ्युदय 14-49
4. यादवाभ्युदय 17-100
5. यादवाभ्युदय 16-118
6. यादवाभ्युदय 9-20
7. यादवाभ्युदय 17-98
8. यादवाभ्युदय 16-121
9. यादवाभ्युदय 17-115
10. यादवाभ्युदय 16-119

चले जाने से समस्त अन्तराय शान्ति हो जाते हैं। उनकी दिव्य दृष्टि पड़ने से प्राणियों का अज्ञानान्धकार दूर हो जाता है। निरन्तर अपराध करने वाले प्राणियों के उद्धार के लिए भगवान् की शरणागति ही एकमात्र उपाय है। भगवान् के प्रासादप्राप्त भक्त अथवा उन भक्तों के कृपा पात्र जन भगवान् की शरण में जाकर पुनः संसार में नहीं आते हैं। भक्तों से कदाचित् अपराध हो भी जाय तो स्वाश्रित जनों पर की गयी भगवतकृपा भंग नहीं होती है। भगवान् एक बार कृपा करने पर ही प्राणी के सभी पापों को ही नष्ट कर देते हैं।

परम कारूणिक श्री मन्नारायण जीव के कल्याण के लिए उपयुक्त समय की सदैव प्रतीक्षा करते रहते हैं। वह लोक के पिता है, शेषी हैं, संसार का कल्याण करने में तत्पर रहते हैं। वह अपने द्वारा कराए गए, जीव द्वारा घुणाक्षर न्याय से हो गये किसी सुकृत को आधार बनाकर पतनशील जीवों का उद्धार करते हैं।

भगवान् अपने अनन्योपासकों को स्वप्रदत्त भक्ति द्वारा संसार से मुक्त करते हैं, यह बात तो सत्य है किन्तु प्रश्न तो यह है कि भगवान् की अनन्योपासना एवं भक्ति प्राप्त कैसे की जाय? इसके लिए भी वेदान्तदेशिक ने अपने काव्यों में उपाय बताया है। सर्वप्रथम सदाचार्य का समाश्रयण करना चाहिए, इससे प्राणी में मुत्त्युन्मुख अनेक गुण उत्पन्न होते हैं। सदाचार्य द्वारा उसे अर्थ पंचक का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। प्रात्त्य व्रत का स्वरूप, प्राप्ता, जीव का स्वरूप (भगवत्शेषत्व) प्राप्ति के उपायस्वरूप

(भगवत्कृपा) फलस्वरूप (पुरूषार्थ रूप-भगवत्कुकर्य) और विरोधि स्वरूप (अहंकारादि) का ज्ञान अर्थ पंचक कहा जाता है।[1]

अर्थ पंचक का बोध होने के अनन्तर पुरूष को अपने स्वरूप का ज्ञान होता है तो वह बहुत दुखी होता है कि अब तक मैं कहाँ अनुचित मार्ग में पड़ा था। भगवान् शेषी हैं मैं उनका शेष हूँ इत्यादि पश्चाताप करने पर ईश्वर उसे अपना समझ कर ग्रहण करते हैं। और वह मुक्तयैश्वर्यादि को प्राप्त करता है। आचार्योपदेश रहित प्राणियों को ऐहिकायुष्मिक सिद्धियां नहीं प्राप्त होती। आचार्य समाश्रवण से शमदमादि की उत्पत्ति होती है। भगवदुन्मुख प्राणी में देहादि से विरति और ब्रह्मादि में राग उत्पन्न होता है। उसमें अन्तर्ज्योति प्रकाशित हो जाने पर अन्य वासनायें समाप्त हो जाती हैं। वह क्षुद्र मन्त्रों का परित्याग करके मुख्य मन्त्रों का अनुसन्धान करता हुआ सन्तोष प्राप्त करता है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, आदि पर विजय प्राप्त कर लेने के अनन्तर उसे अपने शरीर को क्षीण करना चाहिए। उसे तत्त्व (स्वरूप, परस्वरूप आदि) उपाय (उपासनादि) आदि में एकनिष्ठ होकर जीवनयापन करना चाहिए। इस प्रकार क्रम से मुमुक्ष प्राणी में विष्णु भक्ति उत्पन्न हो जाती है। निर्विघ्न बढ़ते हुए करूणाक्षीर सागर परब्रह्म में भाग्यवशात् भक्ति दृढ़ होने लगती है। चितवृत्तियों के निरोध से चित्त के शान्त हो जाने पर हृदय से अनवरत ध्यान रूपी भगवान् की भक्ति ही-निर्विक रूपक समाधि है। भगवान् की यह अनन्य

---

1. प्राप्यस्य ब्रह्मणौ रूपं प्रापुश्च प्रत्यगात्मनः।
प्राक्ष्युपापं फलं प्राप्तेस्तथा प्राप्तिविरोधि च।। हारीत संहिता

भक्ति भवमय निवारिणी है।[1] विष्णु भक्ति द्वारा मनुष्य संसार से छूट जाता है। इस भक्ति या तत्कारणभूता विष्णु भक्ति में भगवत्संकल्प ही हेतु है। भगवत्संकल्प के बिना मुक्ति सम्भव नहीं है। विष्णु की कृपा से ही प्राणी मुक्त हो सकता है। भगवान् अनन्यचित्तोपासक भक्त को स्वप्रदत्त भक्ति द्वारा मुक्त कर देते हैं।[2]

मुक्त पुरूष को भी शास्त्रीय मार्ग का पालन करना चाहिए। उसे वर्णाश्रम व्यवस्था का परित्याग नहीं करना चाहिए, अपितु जीवनपर्यन्त वर्णाश्रमानुकूल आचरण करते रहना चाहिए। क्योंकि तत्त्वज्ञान हो जाने पर पापों से सम्पर्क नहीं होता, किन्तु जो प्रारब्ध कर्म है, उनका नाश तो भोग करने के अनन्तर ही होगा। प्रश्न यह होता है कि प्रारब्ध कर्मो का भोग उसे किस प्रकार करना है? बिना कुछ किये हुए जहवत् बैठकर या कर्मानुष्ठान करते हुए। जडवत् बैठकर प्रारब्ध कर्मो का भोग सम्भव नहीं है, क्योंकि शरीर पात पर्यन्त वह स्वाधीन न होकर स्वकर्माधीन है। वह जड़वत् बैठने आदि में समर्थ ही नहीं है। अतः यही कहा जायेगा कि कर्मानुष्ठान करते हुए ही उसे अवशिष्ट जीवनयापन करना चाहिए। पुनः प्रश्न होता है कि वह किन कर्मो का अनुष्ठान करे? क्योंकि किसी ऐहिकामुष्मिक कर्म में फलाकांक्षा न होने के कारण उसकी प्रवृत्ति ही नहीं होगी। इस विषय में गहन विचार करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि फलकांक्षा न होने पर वह कर्म ही नहीं करेगा, ऐसी बात नहीं है,

1. यादवाभ्युदय 24-23
2. यादवाभ्युदय 20-83

अपितु अनासक्त भाव से वर्णाश्रम धर्मो का अनुष्ठान करेगा। इस विषय में श्रुतियां भी प्रमाण हैं-'यावत्सम्पातमुषित्वा[1] प्राप्यन्तं कर्मण:[2] यदेवविययाकरोति.. ..त देववीर्यतरम्[3] नामुक्तंदीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि[4] इत्यादि। इसी बात की पुष्टि अग्निहोत्रादि तुतत्कार्यस्यैव तदर्शवात्भोगेन[5] तु इतरे क्षपयित्वाय सम्पधते[6] इत्यादि सूत्रों से भी होता है। इस प्रकार वर्णाश्रम धर्मानुष्ठान से प्रसन्न होकर भगवान् उसके सम्पूर्ण (संचित एवं क्रियमाण) कर्मो को नष्ट कर देते हैं। अत: संसार बीज रूप कर्म के अभाव से भगवत्प्राप्त प्राणियों की पुनरावृत्ति नहीं होती।[7]

भगवान् को नित्य कैंकर्य से प्राप्ति करना ही मुक्ति है। मुमुक्ष भगवान् के चरणारविन्दों में दास्यभाव रखता है। वह निवृत्ति धर्म बढ़ाने तथा निषिद्ध कर्म के नाश के लिए भगवान् को भजता है। भगवान् जीवों की रक्षा के लिए करूणावश सदैव भक्त परतंत्र रहते हैं वे उनके कल्याण के लिए अपने चरणों में प्रेम उत्पन्न करते हैं। स्वप्राप्ति में स्वयं ही उपाय होने के कारण वे ही जीवों को भक्ति-प्रदत्ति प्रदान करते हैं। प्रभु की शरण में जाकर जीव सब उन पर अपनी रक्षा का भार छोड़ देता है तो उसके सभी मनोरथ पूर्ण हो जाते हैं। वह पूर्वकृत (संचित) एवं उत्तर

---

1. छा0 05-10-5
2. वृ0उ0 6-4-6
3. छा0 उ0 1-1-10
4. व्र0 वै0 प्रहतिखण्ड 26-70
5. ब्रह्मसूत्र 4-1-16
6. ब्रह्मसूत्र 4-1-19
7. यादवाभ्युदय 1-60

(क्रियमाण) कर्मों के फल से मुक्त हो जाता है।[1] परम पद प्राप्ति के लिए उसको अर्चिरादि मार्ग से जाना होता है, वह विरजा नदी पार करने के अनन्तर परम धाम बैकुण्ठ में पहुंचता है। बैकुण्ठधाम निरापद, अपुनर्भव, अनवध एवं अनन्त सम्पत्तियों का उदय स्थान है। इस मुक्ति में तारतम्य भाव अर्थात् न्यूनाधिक्ययावैषम्य नहीं होता है। सभी मुक्त जीव समान कोटि में रहते हैं।

मुक्त पुरूष के लिए जहां वर्णाश्रमानुकूल विहित कर्मो को करने का विधान है, वहीं निषिद्ध कर्मो से विरत रहना भी आवश्यक है। यह बात यद्यपि पूर्वोक्त कथन तथा 'तदधिगम उत्तरपूर्वाधयोरश्लेषविनाशां तद्वयपदेशात्'[2] इत्यादि सूत्र से विरूद्ध प्रतीत होता है, क्योंकि मुक्त पुरूष द्वारा किए गए पाप कर्मो का तो संश्लेष ही उससे नहीं होता तो पापकर्मो का निषेध क्यों किया जाय? यहां यह अवधेय है कि मुक्त पुरूष द्वारा विहित पाप कर्मो के संश्लिष्ट न होने का अर्थ नहीं है कि उसे पाप कर्म करने का अधिकार-पत्र प्रदान कर दिया गया है। पाप कर्मो से संश्लिष्ट न होने का तात्पर्य है कि राग-द्वेषादि से मुक्त होने के कारण पाप कर्मो की ओर उसकी प्रवृत्ति ही नहीं होगी। प्रमादवश कहीं उसकी प्रवृत्ति न हो जाय इसलिए उसे पाप कर्मो से विरत रहने के लिए कहा गया है। भगवदपचार या अन्य पाप कर्मो को तो भगवान् क्षमा भी कर देते है किन्तु

---

1. यादवाभ्युदय 19-47
2. ब्रह्मसूत्र 4-1-13

भागवतापचार को वे सहन नहीं कर सकते। भागवतापचार भक्ति और प्रपत्ति करके ही किया जा सकता है, अन्य कोई उपाय नहीं है।

भगवान् भक्तों के अधीन रहते हैं।[1] वे स्वचरणाश्रितों को सब कुछ प्रदान करते हैं[2] तथा शरणागत की रक्षा के लिए गृहीत व्रत हैं।[3] वे भक्तों की प्रतिज्ञा की रक्षा के लिए अपनी प्रतिज्ञा का परित्याग कर देते हैं।[4] आश्रित की रक्षा के लिए निम्न कोटि का कार्य करने में भी नहीं हिचकते। वे पृथ्वी का भार उतारने के लिए स्वेच्छा से अवतार लेते हैं[5] तथा दयार्द्र होकर भार को दूर भी करते हैं।[6] उनके अन्तर्यामी, पर, व्यूह, विभव और अर्वावतार पांच रूप माने जाते हैं।[7]

श्री रामानुज सम्प्रदाय की शाखायें

इसी प्रसंग में विशिष्टाद्वैत दर्शन के अवान्तर भेदों पर भी विचार कर लेना प्रासंगिक है। विशिष्टाद्वैत-दर्शन के समर्थक श्री वैष्णव या श्री सम्प्रदायानुयायी कहे जाते हैं। यद्यपि आज भी समस्त श्री वैष्णव मूल रूप में नाथ या मुनयतीन्द्रादि प्रवर्तित विशिष्टाद्वैत के सिद्धान्तों का समर्थन करते हैं, किन्तु आगे चलकर श्री लोकाचार्यादि तथा श्री वात्स्य वरदाचार्यादि द्वारा सूक्ष्म दृष्टि से विमर्श करने पर इस सम्प्रदाय में भेद आ गया। जिन्हें

---

1. यादवाभ्युदय 24-73
2. यादवाभ्युदय 24-10
3. यादवाभ्युदय 23-43
4. यादवाभ्युदय 23-40
5. यादवाभ्युदय 20-84, 1-94
6. यादवाभ्युदय 20-85
7. यादवाभ्युदय 1-45

तेन्वलै और वडक्लै कहते हैं। ये दोनों ही द्राविड़ (तमिल) भाषा के शब्द हैं। तमिल में तेन् शब्द का अर्थ है दक्षिण और वह शब्द का अर्थ है उत्तर। क्लै शब्द का अर्थ है कला, विद्या अर्थात् शास्त्र। अतः तेनक्लै शब्द का अर्थ हुआ दक्षिण देशीय शास्त्र और वडक्लै शब्द का अर्थ हुआ उत्तर देशीय शास्त्र। इन्हें ही क्रम से द्राविड़ वेद और संस्कृत वेद कहते हैं। इस प्रकार द्राविड़ वेदरूपदिव्य प्रबन्धों में जिनका प्रावण्यातिशय था वे तेन्क्लाचार्य कहलाये। द्राविडवेद भाषान्तरीय हैं, संस्कृत वेद ही वास्तविक वेद हैं अतः उन्हीं में प्रवीणता प्राप्त करना चाहिए, ऐसा जिन आचार्यो को अभिमत हुआ वे वडक्लाचार्य कहलाये। वस्तुतः दोनों सम्प्रदायों में भेद-निबन्धन का कारण यही है, जैसा कि उनके नामों से ही स्पष्ट हैं, किन्तु वर्तमान काल में इसका यह स्वरूप नहीं रह गया है। अब तो यह भेद केवल तिलक तथा आचरणों तक सीमित रह गया है। जो श्री वैष्णव नासिका सम्बन्ध सहित उर्ध्वपुण्ड्र धारण करते हैं वे तेनवल और जो नासिका सम्बन्ध विरहित ऊर्ध्वपुण्ड्र धारण करते हैं वे वडवल कहे जाते हैं। भगवत्सान्निध्य में खड़े होने तथा प्रणाम करने में भी कुछ अन्तर है। तत्तवेद प्रावीण्य का तो प्रश्न ही नहीं रह गया है, क्योंकि दोनों सम्प्रदायों के आचार्य अपने को उभयवेदान्तप्रवर्तकाचार्य कहने में गौरव अनुभव करते हैं।

सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर इनमें अठारह विषयों में भेद आ गया है। उन भेदों को संगृहीत करके अधोलिखित श्लोक में रखा गया-

भेदः स्वाभिकृपाफलान्यगतिषु श्री व्याप्त्युपायत्वयौ

स्तद्वात्सल्यदयानिरूवितवचसौन्र्यासे च तत्कर्तरि।

धर्मत्यागावरौक्यौः स्वावहिवे न्यासानं हेतुत्वयोः

प्रायाश्चतविधां तदापभजनेऽणुव्याप्तिकैवल्ययोः।।[1]

इन भेदों पर संक्षेप में विचार कर लेने के अनन्तर ही वेदान्तदेशिक के काव्य प्रतिपादित सिद्धान्तों के आधार पर किसी वर्ग में रखने का निर्णय किया जा सकता है। यहां पर यह अवधेय है कि इस स्थल पर किसी एक सम्प्रदाय के औचित्यानौचित्य या गुणागुण का विचार नहीं किया जायेगा। न तो वह शोधप्रबन्ध का विषय है और न प्रस्तुत प्रसंग में उसका कोई प्रयोजन ही है। यहां दोनों सम्प्रदायों की मान्यताओं का उल्लेख मात्र किया जायेगा। अन्त में यह देखा जायेगा कि उनमें से किन-किन मान्यताओं को आचार्य वेदान्तदेशिक ने स्वीकार किया है। दार्शनिक ग्रन्थों में या अन्य रचनाओं में इन विषयों पर उनकी क्या मान्तायें हैं, इसका प्रतिपादन भी यहां नहीं किया जायेगा। हो सकता है कि दार्शनिक ग्रन्थों का अध्ययन करने पर इन विषयों पर कुछ नया प्रकाश पड़े, किन्तु वह भी इस शोध कार्य में उपादेय नहीं है।

प्रथम भेद स्वामिकृपा के विषय में है। तेनक्लाचार्यो के मत से भगवान् की कृपा निर्हेतुक होती है। वडक्लाचार्यो के मत में भगवत्कृपा सहेतुक होती है अर्थात् भक्ति या प्रपत्ति का अवलम्बन लेकर प्रवृत्त होती है।

---

1. अष्टादश विषदार्थ शड्ग्रहः 2

इस विषय में वेदान्तदेशिक का मत है कि भगवान् जीवों की रक्षा के लिए सदैव करूणावश परतन्त्र रहते है। जीवों का कल्याण करने के लिए अपने चरणों में भक्ति उत्पन्न करते हैं। विष्णु की दया होने पर ही ध्यान रूपा समाधि लगती है, इसके बाद भक्ति से प्रसन्न होकर नारायण की दया उत्पन्न होती है और उस भक्त को भगवान् का नित्य किंकर बना देती है अर्थात् संसार से मुक्त कर देता है। आगे वे फिर कहते है कि प्रणाम (भक्ति) से प्रसन्न भगवान अपनी कृपा से पुरूष को स्वसाम्य प्रदान करते है। यद्यपि अपनी प्राप्ति में उपाय नारायण स्वयं हैं किन्तु प्रवत्ति या भक्ति द्वारा ही वह उपाय प्राप्त किया जा सकता है। उपर्युक्त कथनों पर सम्यक् विचार करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि भगवान् की कृपा पुरूष पर दो बार होती है- प्रथम बार भक्ति या प्रपत्ति की भावना उत्पन्न करने के लिए और दूसरी बार मुक्ति प्रदान करने के लिए। कर्मवश संसारासक्त प्राणी में करूणावरूणालय नारायण अपना निर्हेतुक दया से भक्ति उत्पन्न करते हैं और मुक्ति प्रदान करने में उसकी भक्ति या प्रपत्ति को ही साधन बना लेते हैं। यही बात न्यायसंगत भी प्रतीत होती है। कहने का तात्पर्य यह कि यदि इस दृष्टि से विचार किया जाय तो दोनों सम्प्रदायों में 'स्वामिकृपा' के विषय में कोई भेद ही नहीं है। यह निर्हेतुक (स्वप्रयोजनरहित) होते हुए भी मुक्ति प्रदान करने में सहेतुक (निमित्त बनाकर) प्रवृत्त होती है, अन्यथा भगवान् में वैषम्य आदि दोषों का आक्षेप होने लगेगा। तेन्दलाचार्य निर्हेतुक की व्याख्या उक्त प्रकार से भिन्न रूप में करते हैं, उनका कथन है कि भगवान् की कृपा किसी

हेतु अर्थात् प्रयोजन वश नहीं होती है, क्योंकि वह तो स्वयं अवाप्त समस्तकाम हैं। मुक्ति प्रदान करने में तो वह वैषम्यनेर्घृण्य दोष की निवृत्ति के लिए भक्ति या प्रपत्ति को आधार बनाते ही हैं। इस रूप में व्याख्या करने पर भी तेन्वल और वडक्ल सम्प्रदाय में इस विषय में कोई भेद नहीं रह जाता है।

दूसरा भेद फल अर्थात मोक्ष के विषय में है। तेनक्लाचार्यो का मत है कि भक्ति योग निष्ठों के लिए भगवदनुभव तथा प्रपत्ति योगनिष्ठों के लिए भगवत्वेकर्म फल है। अर्थात् दोनों के फल में अन्तर है किन्तु वडकलाचार्यो का मत है कि भक्त और प्रपन्न की मुक्ति में कोई अन्तर नहीं है अतः दोनों ही भगवदनुभव तथा भगवत्केकर्य के भागी होते हैं। मुक्ति के विषय में वेदान्तदेशिक का मत है कि मुक्ति समरूप ही होती है। सत्व गुर्णो का उदय होने पर परस्पर तारतम्य समाप्त हो जाता है। यद्यपि मुक्ति को समान रूप मानने पर साधन भेद घटित नहीं होता किन्तु यदि असमान माना जाय तो मोक्ष भी स्वर्ग के समान तर तम रूप हो जायेगा जो कि अभीष्ट नहीं है। अतः निरंजनः परमं साम्यमुपैति इत्यादि श्रुतियों के प्रामाण्य बल से मोक्ष को समरूप ही मानना चाहिए।

अन्यगति तीसरा भेद है। अन्यगति से तात्पर्य है, प्रपत्ति के अतिरिक्त मुक्ति के अन्य उपाय भी है। तेनकलै सम्प्रदायानुसार प्रपत्ति के अतिरिक्त कर्मयोग, ज्ञान योग, भक्ति योग और आचार्याभिमान योग भी स्वतन्त्र रूप से मोक्ष के उपाय हैं। वडकलै सम्प्रदायानुसार प्रपत्ति के अतिरिक्त केवल भक्ति योग ही मोक्षोपाय है। इसके विषयक में वेदान्तदेशिक ने अन्य

उपायों का खण्डन तो नहीं किया है किन्तु स्थान-स्थान पर भक्ति और प्रपत्ति को ही मोक्ष का साधन बताया है। एक स्थान पर भक्ताश्रित को भी मुक्त होने का उन्होंने उल्लेख किया है। जिससे ज्ञात होता है कि आचार्याभिमान को भी वे मुक्ति का साधन मानते हैं।

चतुर्थ भेद श्री व्याप्ति के विषय में है। तेनकलै मत से श्री स्वरूपेण अणु है न कि विभु। वे जीव कोटि में ही हैं न कि ईश्वर कोटि में। अन्यथा ईश्वर द्वित्व हो जायेगा। किन्तु वडवले मत से श्री विसु हैं, वे ईश्वरकोटि में हैं। श्री विशिष्ट नारायण ही तत्त्व है अतः ईश्वर के द्वित्व का कोई प्रसंग ही नहीं है। काव्य प्राप्त प्रमाणों के आधार पर वेदान्तदेशिक लक्ष्मी को विभु मानते ज्ञात होते हैं। उन्होंने उमयोर्विभुतिभुतभुमयविधं जगत् से लक्ष्मी नारायण की समानता दिखायी है। वे दम्पति (लक्ष्मीनारायण) को स्वेच्छा से अपनी विभूति द्वारा विश्वरूप में विभक्त दिखाकर विश्व को शेष तथा लक्ष्मीनारायण को समान रूप से शेषी दिखाना चाहते हैं। उन्होंने लक्ष्मी को सर्वेशु भावेषु समान रूपा[1] कहा है। चतुर्दश लोक लक्ष्मी के क्रीड़ा प्रकरण हैं[2] तथा लक्ष्मी और नारायण सब के हृदय में स्थित हैं।[3] इत्यादि कथन लक्ष्मी का विभुत्व सिद्ध करते हैं।

लक्ष्मी का उपायत्व पंचम भेद है। तेनकलाचार्यो का कथन है कि भगवान ही मोक्षोपाय है न कि लक्ष्मी। वह पुरूषकार होने के कारण

---

1. यादवाभ्युदय 12-4
2. यादवाभ्युदय 12-18
3. यादवाभ्युदय 13-92

परम्परया मोक्षोपाय हैं साक्षात् नहीं। अन्यथा दो मोक्षोपाय हो जायेंगे। वडक्लाचार्यो का कथन है कि लक्ष्मी भी भगवान् के समान साक्षात् मोक्ष देती हैं। भगवान् की पत्नी होने के कारण उनके मोक्ष प्रदान करने में उपाय द्वित्व का कोई प्रसंग ही नहीं है। लक्ष्मी के उपायत्व के विषय में वेदान्तदेशिक का मत है कि लक्ष्मी साक्षात् उपाय नहीं है यद्यपि वह अपने कटाक्षों से जगत् की रक्षा करती हैं। सभी प्राणियों की प्रार्थना को पूर्ण करती हैं। उनके चरणों का ध्यान करके प्राण त्याग करने वाली प्राणी भी भगवान् विष्णु के धाम में निवास करता है किन्तु लक्ष्मी पुरूष को भगवदुन्मुख कर देती है। दुस्सह अपराध से डरे हुए प्राणियों को भी लक्ष्मी पुरस्कृत करके भगवान् को प्राप्त करने योग्य बना देती है। इसके अतिरिक्त उन्होंने स्पष्ट शब्दों में प्राणियों की मुक्ति को केवल भगवदधान कहा है।[1] अतः सिद्ध होता है कि केवल नारायण ही मोक्ष प्रदान करते हैं।

षष्ठ भेद वात्सल्य के विषय में है। तेनक्लै मत से दोष भोग्यत्व भगवान् का वात्सल्य है। वह प्रपन्नों द्वारा क्रियमाण दोषों को सकचन्दनादि के समान भोग्य तथा स्वीकार कर लेते हैं। वडक्लै मत से दोषादर्शित्व ही भगवान् का वात्सल्य है। भगवान् प्रपन्न के दोषों की उपेक्षा कर देते हैं, उसे देखते ही नहीं। इस विषय में वेदान्तदेशिक का मत है कि

---

1. त्वदेकाधान मुक्तयः यादवा0 16-118
तथा निष्कृतिस्त्वदृयसत्तिरैवनः याद0 17-115

भगवद्दया भक्त के दोषों की उपेक्षा कर देती है।[1] कदाचित् अपराध हो जाने पर भी भगवान् की कृपा स्वाश्रितजनों पर बनी रहती है।[2]

दया के विषय में भी दोनों सम्प्रदायों में भेद है। भक्त के दुःख से दुखी हो जाना भगवान् की दया का स्वरूप है, ऐसा तेनक्लाचार्यो का मत है। वडक्लाचार्यो के मत से भक्त के दुःख को न सह सकना दया है। वह उस दुःख के निराकरण पर्यन्त रहता है। भगवान् के परदुःखदुःखित्व या परदुःख सहत्व के विषय में वेदान्तदेशिक के काव्यों में कोई स्पष्ट उक्ति नहीं मिलती है। उन्होंने केवल इतना कहा है कि भगवान् भक्तों की रक्षा के लिए गृहीत व्रत हैं।[3] उन पर विपत्ति पड़ने पर स्वयं अवतार तक धारण करते हैं[4] और पुरूष के दुरितों को दूर करते हैं।

अष्टम भेद न्यास के विषय में है। न्यास का अर्थ है- शरणागति या प्रपत्ति। रक्षोन्मुख भगवान् के समक्ष अपने को न छिपाना या भगवच्छेषत्व का यथार्थ ज्ञान ही न्यास है, ऐसा तेनक्लाचार्यो का मत है। वडक्लाचार्यो का कथन है कि केवल भगवच्छैषत्व का ज्ञान ही न्यास नहीं है, अपितु आत्मसमर्पण का अनुष्ठान करना न्यास है। शरणागति के विषय में एक स्थान पर वेदान्तदेशिक कहते है कि तत्व, उपायादि का ज्ञान प्राप्त करके कृताजन अपनी शेष आयु व्यतीत करते हैं। इससे प्रतीत होता है कि तत्वज्ञान को ही वे शरणागति मानते हैं, किन्तु अन्यत्र वे भगवान् में अपना

---

1. यादवाभ्युदय 16-45
2. यादवाभ्युदय 17-66
3. यादवाभ्युदय 23-43
4. यादवाभ्युदय 7-97

सम्पूर्ण भार समर्पित करने के लिए कहते हैं। जिससे ज्ञात होता है कि आत्मसमर्पण को उन्होंने शरणागति मानी है। इस प्रकार शरणागति के दोनों रूपों का प्रतिपादन उनके काव्यों में प्राप्त होता है।

न्यासकर्ता के विषय में भी दोनों सम्प्रदायों में अन्तर है। गीता में विविध धर्मो को भक्ति का अंग कहकर अन्त में सर्वधर्मपरित्याग विधान से भक्ति में विश्वास की मन्दता प्रतीत होती है। इस प्रकार विश्वासमन्दता युक्त व्यक्ति ही प्रपत्ति का अधिकारी है अथवा प्रपत्ति गर्भित द्राविड़वेद को जानने वाला ही प्रपन्न है, ऐसा तेनक्लै सिद्धान्त है। वडवलै मत से अनन्यगति, अकिंचन और विलम्बाक्षम ही न्यास का अधिकारी है। न्यास के अधिकारी के विषय में काव्यों में कोई वचन प्राप्त नहीं होता है केवल एक स्थान पर विष्णु को प्रमेय तथा सत्वगुण सम्पन्न ब्राह्मण को प्रमाता बताया गया है। सत्त्वगुणों से क्या तात्पर्य है, यह स्पष्ट नहीं है। कहने का तात्पर्य यह कि न्यासकर्ता का स्पष्टरूप काव्यों में उन्होंने प्रतिपादित नहीं किया है।

दशम भेद धर्मत्याग के विषय में है। तेनक्लैमतानुयायियों का कथन है कि सर्वधर्मान् परित्यज्य इत्यादि चरमश्लोक में सर्वधर्मपरित्यागवचन से प्रपन्नों द्वारा काम्यकर्मो के समान नित्यनैमित्तिक कर्म भी त्याज्य है, क्योंकि वे अन्य देवोपासना से युक्त रहते हैं। वडक्लै मत के अनुसार तो नित्यनैमित्तिक कर्मो का परित्याग प्रपन्न को भी नहीं करना चाहिए। सर्व धर्मपरित्याग वच न केवल काम्य कर्मो के लिए है। नित्यनैमित्तिक कर्मो के त्याग के विषय में वेदान्तदेशिक ने स्पष्टरूप से नहीं कहा है किन्तु मुक्त

पुरूष के लिए शास्त्रीय मार्ग का पालन तथा आश्रमादि व्यवस्था का परित्याग न करने का उल्लेख किया है जो कि इस भेद से सम्बन्धित न होकर बारहवें भेद स्वविहित कर्म से अधिक सम्बद्ध है।

विरोध के विषय में भी दोनों सम्प्रदायों में मतभेद है। शेषभूत पुरूष के लिए उपायान्तर उपासना का अवलम्बन स्वरूप विरूद्ध है। अतः उसमें प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिए। ऐसा तेनक्लाचार्यो का मत है। वडक्लाचार्यो का मत है कि उपासना स्वरूपविरूद्ध नहीं होती है। आत्मयाधात्म्यविद के ही लिए तो उपासना का विधान है। इस विषय में भी आचार्य वेदान्तदेशिक की स्पष्ट उक्ति काव्यों में नहीं मिलती किन्तु अनेक स्थानों पर उन्होंने भगवान् की अनन्योपासना को ही मुक्ति का साधन माना है। उन्होंने यह भी कहा है कि क्षुद्र मन्त्रों का परित्याग करके मुख्य मन्त्रों से सन्तोष प्राप्त करना चाहिए। इससे यह प्रतीत होता है कि वे अन्य देवादिक की उपासना का समर्थन नहीं करते।

बारहवां भेद विहित कर्मो के विषय में है। तेन्क्लैमत से शास्त्रों में विहित कर्म प्रपन्नों द्वारा लोक कल्याणार्थ ही करना चाहिए। अवश्य कर्त्तव्य बृद्धि से नहीं क्योंकि प्रपन्नों द्वारा उनके त्याग का विधान है। वडक्लै मत से वर्णाश्रम धर्म प्रपन्नों के द्वारा भी अनुष्ठेय है, परित्याज्य नहीं है। इस विषय में तो दशम भेद में बताया जा चुका है कि वे मुक्त पुरूष, के लिए शास्त्रीय मार्ग एवं आश्रमादि व्यवस्था के पालन का समर्थन करते हैं।

न्यास के अंगों के विषय में भी इन सम्प्रदायों में भिन्नता है। अनुकूल का संकल्प, प्रतिकूल का वर्जन आदि न्यास के पांच अंग माने

जाते हैं। उनका भी प्रपत्ति के समय अनुष्ठान करना आवश्यक नहीं है। किन्तु यथासम्भव ही ग्राह्य है। मुमुक्षु के फल की कामना नहीं रहती। अत: अंगों का नियमत: अनुष्ठान आवश्यक नहीं है। यह तेनक्लै मतावंलबियों का कथन है। वडक्लै मत से अंगों के विहित होने के कारण नियमत: इनका अनुष्ठान आवश्यक है। मुमुक्षु में भी भगवदनुभव भगवत्कैकर्यरूप फल की कामना तो रहती है, अत: तादृशफल की प्राप्ति के लिए सांग प्रपत्ति का अनुष्ठान आवश्यक है। वेदान्तदेशिक के काव्यों में सांग प्रपत्ति का वर्णन नहीं मिलता है। उन्होंने अकिञ्चन भाव से आत्मसमर्पण मात्र का उल्लेख किया है।

न्यास के हेतु के विषय में भी मतभेद है। तेनक्लै मत में नायमात्मा प्रवचनेन लभ्य: इत्यादि त्रुटियों से यह ज्ञात होता है कि भगवान् का सिद्धोपाय ही मोक्ष का साधन है न कि साध्योपाय प्रपत्ति। अधिकारी भेद से उनमें अन्तर हो सकता है। वडक्लै मत में प्रपत्ति को भी मोक्ष का साधन माना गया है। नायमात्मा इत्यादि श्रुति प्रतिपादित सिद्धोपाय का तात्पर्य उसके प्राधान्य में है न कि उपायान्तर के निषेध में, अत: साध्योपाय प्रपत्ति भी मोक्ष का साधन है। इस विषय में वेदान्तदेशिक के उभयप्रकारक विचार प्राप्त होते हैं। मुख्यरूप से तो उनका कथन यह है कि भगवान् अनन्य चित्तोपासकों को स्वयं मुक्त करते हैं।[1] भक्ति प्रपत्ति भगवत्कृपा से प्राप्त होती है, वे स्वप्राप्ति के उपाय वे स्वयं हैं। किन्तु यह उक्ति भी मिलती है कि वेदोक्त कर्मज्ञानायाराचित भगवान् की प्रसन्नता से अभीष्ट

1. यादवाभ्युदय 20-83

फल प्राप्त होता है। इसमें यद्यपि कर्मज्ञानादि को साधनोपाय माना गया है तथापि मुक्ति में साक्षात् हेतु भगवान् की प्रसन्नता ही है।

इनमें पन्द्रहवां भेद प्रायश्चित विधि के विषय में है। तेन्क्लाचार्यो का मत है कि प्रपन्नों द्वारा बुद्धिपूर्वक पाप किये जाने पर भी भगवान् की क्षमा ही प्रायश्चित के स्थान पर स्थित होकर उसके पापों को नष्ट कर देती है। अतः स्मृत्यादि विहित कृच्छ चान्द्रायणादि व्रत आवश्यक नहीं हैं। यदि प्रायश्चित करने की इच्छा ही हो तो पुनः प्रपत्ति करनी चाहिए।[1]

वडक्लाचार्यो का मत है कि बुद्धिपूर्वक उपाय किये जाने पर प्रपन्न द्वारा शक्ति रहने पर ही पुनः प्रपत्ति की व्यवस्था है। वेदान्तदेशिक प्रपन्न द्वारा अपराध हो जाने पर प्रायश्चित का समर्थन करते हुए नहीं प्रतीत होते हैं। कृतापराधेऽपि कृपामकार्षीत्[2] से भगवान् द्वारा अपराध क्षमा कर देने का समर्थन करते हैं। आगे वे कहते हैं कि अपराध करने वालों के लिए भगवान् की शरणागति ही एक मात्र उपाय है।[3] अन्तर्यामी परमात्मा दहरवियाद्युपासकों के पाप समूह को नष्ट कर देते हैं।[4]

भागवतों के भजन के विषय में भी दोनों मतों में भेद है। तेनक्लै मत से शास्त्रीय वचनों के अनुसार शूद्र जातीय भागवत भी ब्राह्मण भागवर्ती के समान पूजनीय है, अनादरणीय नहीं, किन्तु वडक्लैमत से शूद्रजातीय भागवत ग्राह्य है अनादरणीय नहीं। आशीर्वचन सम्भाषणादि से

---

1. प्रायश्चितिरियं सातु यत्पुनः शरणं व्रजेत। ल0त0 17-91
2. यादवाभ्युदय 2-26
3. यादवाभ्युदय 17-115
4. यादवाभ्युदय 19-47

वे तोषणीय है, किन्तु वन्दनीय नहीं है। यावच्छरीरपात देहाश्रिता जाति तो रहती ही है, प्रपन्नता आदि से जाति नहीं बदल जाती है। भागवतों के भजन के विषय में उनके काव्यों में कोई स्पष्ट उक्ति नहीं मिलती। भागवतापचार के विषय में उन्होंने अवश्य स्पष्टरूप से कहा है कि यह भक्ति और प्रपत्ति को भी समाप्त कर देता है। भागवतापचार करने वाले को भगवान् भी क्षमा नहीं कर सकते। इससे मुक्ति प्राप्त करने के लिए तो भगवान् को प्रसन्न करना ही एकमात्र उपाय है। कहने का तात्पर्य यह है कि वेदान्तदेशिक ने भागवतों को बहुत उच्च स्थान दिया है, किन्तु उनके भजनादि के विषय में कुछ नहीं कहा है।

जीव में परमात्मा की व्याप्ति के विषय में भी दोनों सम्प्रदायों में भेद है। अणु परिमाण जीवों में परमात्मा अन्तर्व्याप्त होकर कैसे रहता है? क्योंकि सावयव वस्तु में ही अन्तर्वाह्य व्यवस्था हो सकती है। जीव तो निरवयव और अणु है। इस विषय में तेनक्लाचार्यो का मत हे कि ईश्वर अघप्ति घटनापटीयान है, उसके विषय में सब कुछ सम्भव है। इस विषय में शास्त्र प्रमाण है कि वह जीव में अर्न्तव्याप्ति होकर रहता है।[1] वडक्लाचार्यो का मत है कि अणु जीव में ईश्वर की व्याप्ति का तात्पर्य है वशादिक सम्बन्ध अर्थात् जीव के हर ओर से व्याप्त होकर ईश्वर का रहना, या जीवेश्वर व्याप्ति रहित भाग का न होना। इस विषय में वेदान्तदेशिक के काव्यों में कोई वचन सुलभ नहीं है। उन्होंने केवल यही कहा है कि ईश्वर चिदचिदन्तरात्मा है। काव्यों के आधार पर यह नहीं

1. अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा तै0आ0 3-20-4

कहा जा सकता है कि वह जीव में घुस कर स्थित है या जीव को घेर कर विद्यमान है।

अठारहवां और अन्तिम भेद कैवल्य के विषय में है। कैवल्य कहते हैं, भगवदनुभव बिना आत्ममात्रानुभव को। तेन्कलाचार्यो का मत है कि केवलात्मानुभव करने वालों का भी परम पद में कहीं स्थान है और वह अनश्वर है। इसीलिए केवलजीवोंपासकों का अर्चिरादि मार्ग में गमन तथा अनिवर्तन गीता भाष्य में प्रतिपादित हुआ है। वडक्लाचार्यो का कथन है कि केवलात्मानुभव करने वालों को प्रकृतिमण्डल में ही रहना होता है और केवलात्मानुभव नश्वर है। अध्येय काव्यों में कैवल्यमुक्ति का उल्लेख नहीं हुआ है। अत: काव्यों के आधार पर इस विषय में वेदान्तदेशिक का अभीष्ट मत प्रस्तुत करना सम्भव नहीं है।

इस प्रकार तेनक्लै और वडक्लै सम्प्रदाय के भेदों का संक्षिप्त परिचय प्राप्त कर लेने के साथ-साथ यह देखा गया है कि वेदान्तदेशिक का इन विषयों पर क्या विचार है। वस्तुस्थिति तो यह है कि वेदान्तदेशिक के सामने तेन्कलै वडक्लै नाम का कोई विवाद ही नहीं था और न वे किसी एक वर्ग के पोषक या प्रवर्तक ही हैं। यही कारण है कि उक्त दोनों सम्प्रदाय वाले इन्हें अपने सिद्धान्त का समर्थक सिद्ध करके स्वयं गौरवान्वित होते हैं। इनकी उक्तियों का अध्ययन करने पर भी हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि कुछ स्थानों पर एकत्र सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का और कुछ स्थानों पर दूसरे सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का समर्थन हुआ है। इतना अवश्य है कि वडक्लाचार्यो की मान्यताओं के विषय में अधिक

तथ्य प्राप्त होते हैं और तेन्क्लाचार्यो की मान्यताओं के विषय में कम। इस आधार पर यह नहीं कहा जा सकता है कि आचार्य वेदान्तदेशिक के वचनों में परस्पर विरोध है या स्वसिद्धान्त के विषय में वे द्विविधा में पड़ गये थे, क्योंकि इन दोनों मतों में ऐसा कोई मौलिक भेद नहीं है जिससे विरोध प्रतीत हो। दोनों अपने मतों का समर्थन नाथुमनि, यामुनाचार्य, रामानुजाचार्य के वचनों से करते हैं तो आचार्य वेदान्तदेशिक को भी उसी कोटि में रखने में क्या हानि है? कहने का मतलब यह है कि वस्तुतः तेन्क्ल और वडक्ल दो मत नहीं है, अपितु दोनों का समन्वित रूप ही रामानुज सम्प्रदाय है।

अतः यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि श्री वेदान्तदेशिक तेनक्लया वडकल नहीं, अपितु विशिष्टाद्वैत दर्शन समर्थक श्री सम्प्रदायानुयायी परम श्री वैष्णव भक्त थे। आचार्य वेदान्तदेशिक ने स्वयं अपने दर्शन को इसी रूप में प्रस्तुत किया है।

सप्तम-अध्याय

यादवाभ्युदय महाकाव्य में वर्णित सामाजिक जीवन

अध्याय-7

'यादवाभ्युद महाकाव्य में वर्णित सामाजिक जीवन'

कवि की कृति को समाज का दर्पण कहा जाता है। यद्यपि कवि किसी ऐतिहासिक इतिवृत्ति के चित्रण में इतिहास आदि के आधार पर तत्कालीन समाज को चित्रित करने का प्रयत्न करता है, किन्तु वह अपने समकालिक समाज की उपेक्षा नहीं कर पाता। वर्तमान समाज उसकी रचनाओं में झलकता रहता है। यदि यह कहा जाय कि कवि अपने समय की आधारशिला पर वर्णित समाज का चित्र खींचने का प्रयत्न करता है तो अनुचित न होगा। वेदान्तदेशिक की रचनाओं में भी तत्कालीन समाज का चित्रण प्रचुर मात्रा में सुलभ है। 'यादवाभ्युदय' महाकाव्य के ऐतिहासिक इतिवृत्त के वर्णन के समय कवि को वर्तमान लोक स्थिति को माध्यम बनाना पड़ा है।

वेदान्तदेशिक की कृतियों में लोक चित्रण दो रूपों में मिलता है- प्रथम कवि के परिसर की लोकस्थिति का चित्रण और द्वितीय है-भौगोलिक आधार पर विभिन्न समाजों की दशा का चित्रण। इसे कवि को लोकप्रियता के साथ-साथ सूक्ष्मदर्शिता का भी पता चलता है। इस अध्याय में सर्वप्रथम उस काल की लोकप्रियता का विचार वेदान्तदेशिक के काव्यों के आधार पर किया जायेगा।

वेदान्तदेशिक का काव्य ऐसे समय में आया जब समाज की तमाम विद्यमान परम्पराओं को किसी न किसी कोने से चुनौती के स्वर सुनाई देने

लगे थे। इसकी अनुगूँज महाकाव्य में स्पष्ट परिलक्षित होती है। साहित्य समाज का दर्पण होता है। अस्तु वेदान्तदेशिक की कृति को आईना माने तो वह सब कुछ नजर आयेगा जो तत्कालीन सामाजिक ताने-बाने में रचने-बसने को आतुर था, या फिर उस समय की व्यवस्था का अभिन्न हिस्सा बन चुका था। यद्यपि कवि ऐतिहासिक इतिवृत्ति के चित्रण में इतिहास पर आधृत समाज का चित्र उकेरने का प्रयास करता है, और यह प्रवृत्ति ''यादवाभ्यादुभय'' महाकाव्य में भी दृष्टिगत होती है। लेकिन तत्कालीन समाज की छाया से मुक्त रह पाना शायद ही संभव हो पाता है, वर्तमान समाज कवि की रचना में प्रतिबिम्बित होता रहता है। वेङ्कटनाथ की कृति भी इसका अपवाद नहीं है। उनकी रचना में तत्कालीन समाज का चित्रण बहुलता से उपलब्ध है।

भौगोलिक आधार पर विभिन्न समाजों की दशा का चित्रण कवि की रचना में उपलब्ध है तो कवि के आस-पास की लोकस्थिति भी महाकाव्य में अवस्थित है।

(i) वर्णाश्रम व्यवस्था

वर्णाश्रम व्यवस्था भारतीय समाज का अभिन्न अंग रही है। चार वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र) और चार आश्रम (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास) के अनुरूप लोग कर्त्तव्य पालन में सचेष्ट रहते थे। कालान्तर में स्ववर्णाश्रमानुकूल धर्म का पालन करने में लोगों की रूचि समाप्त होने लगी। वेदान्तदेशिक के समय में भी वर्णाश्रम व्यवस्था शिथिल हो गयी थी। पोंगापंथी और आडम्बर का प्रादुर्भाव हो चला था। ब्राह्मण

अपने धर्म से विमुख हो रहे थे, फिर भी समाज मे उनकी प्रतिष्ठा थी। उन्हें अन्य वर्णों से उच्च समझा जाता था। "यथा समय ब्राह्मणों के चरण पूजे जाते थे[1]"।

पुरोहित की पूजा होती थी।[2] उन्हें न तो शारीरिक दण्ड दिया जाता था और न पैर से स्पर्श किया जाता था। आचार्य का स्थान बहुत ऊँचा समझा जाता था।

यादवाभ्युदय महाकाव्य ऐतिहासिक ऐतिह्य पर आधारित है। जहाँ सम्पूर्ण कथानक कृष्ण के आस-पास घूमता रहता है। इसलिए रचना में वर्ण व आश्रम की व्यवस्था जैसे विषय विद्यमान होने के बावजूद गौण बनकर रह गये हैं। यहाँ कवि का सम्पूर्ण ध्यान कृष्ण के नायकत्व को अक्षुण्ण बनाये रखते हुए उनकी लीला को पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करना है। एक ऐसी लीला जहाँ बालसुलभ चंचलता और यौवन की उन्मत्तता में ब्रह्मचर्य की चर्चा मायने नहीं रखती। गृहस्थ में पति-पत्नी और परिवार की सीमाओं से परे जाना भी व्यवस्था का अतिक्रमण नहीं जान पड़ता है।

"अतिथि देवो भव" की संकल्पना महाकाव्य से भी पुष्ट होती है। गृहस्थाश्रम में आतिथ्य सत्कार का विशेष महत्व था। आगे बढ़कर अतिथि का स्वागत किया जाता था।[3] गृह स्वामी स्वयं खाद्य सामग्री लेकर उसके सामने उपस्थिति होता था।[4]

---

1. यादवाभ्युदय- 15/33
2. यादवाभ्युदय- 13/79
3. यादवाभ्युदय- 8-34, 1-75
4. यादवाभ्युदय- 9-51

(ii) नारियों की दशा

यादवाभ्युदय महाकाव्य नारियों की लौकिक स्थिति पर पर्याप्त प्रकाश डालता है। वर्तमान प्रगतिवादी मानसिकता का पुट स्त्रियों के संदर्भ में तत्कालीन समाज में भी दृष्टिगोचर होता है। प्रगतिवादी ओज से इतर एक ऐसा तबका भी समाज में विद्यमान था जो महिलाओं को हेय दृष्टि से देखता था। विवाह में दहेज की विकृत परम्परा ने कन्याओं को परिवार में बोझ बना दिया था। रूक्मणी के वेद पढ़ने का संदर्भ यह प्रकट करता है कि तत्कालीन समाज में स्त्रियों के वेद पढ़ने पर कोई प्रतिबन्ध नहीं था, वे वेद पढ़ सकती थी।[1] वे सार्वजनिक सभा तथा उत्सव में शामिल होती थी।[2] राजनीति में प्रभावी भूमिका में न होने के बावजूद उनकी चातुर्य बुद्धि का परिचय मिलता है। यद्यपि नगर की स्त्रियाँ ग्रामीण स्त्रियों की अपेक्षा ज्यादा चतुर होती थीं।[3] यादवाभ्युदय के बाइसवें सर्ग का अठ्ठाइसवाँ श्लोक स्त्रियों के दारूण हृदय का उल्लख करता है।[4] वे चपल, प्रतिकूल, तीक्ष्ण और रूद्रा स्वभाव की होती है।[5] उन्हें हठात् वश में रखना सम्भव नहीं है।[6] गणिकाओं से विवाह संभव नहीं था, परन्तु वेश्यायें राजाओं की सेवा में रहा करती थी।[7] स्त्रियाँ पत्रभंग रचना करती

---

1. यादवाभ्युदय- 12/22
2. यादवाभ्युदय- 10/31
3. यादवाभ्युदय- 9/112
4. यादवाभ्युदय- 22/28
5. यादवाभ्युदय- 24/76
6. यादवाभ्युदय- 24/23
7. यादवाभ्युदय- 19/63

थी।[1] केशों में मांग निकालकर सिन्दूर लगाती थी।[2] गले में मोतियों की माला पहनती थी।[3] सीमान्त में भी मोती की मणि या माला धारण करती थी।[4] शबरांगनायें गुंजाहार, केशो में मयूर पिच्छ एवं पल्लवों के वस्त्र पहनती थी। जिसे देखकर नगरवासियों की हंसी आ जाती थी। कश्मीर की स्त्रियां पुरुषधर्मा होती थी, सैनिकों द्वारा उन्हें अन्त:पुरिका बना लेने का उल्लेख कवि ने किया है।[5] अभिसारिकायें नीले परिधान पहनकर अभिसरण करती थी।[6]

(iii) विवाह संस्कारः

यादवाभ्युदय में विवाह के संबंध में पर्याप्त उल्लेख मिलता है, जिससे उस समय की परम्परा का स्पष्ट भान हो सके। विवाह प्रायः आर्यविधित के अनुसार होता था।[7] दहेज की विभीषिका उस समय भी पूरी तरह विद्यमान थी। इस प्रथा का व्यापक प्रचलन था।[8] वरपक्ष दहेज वसूलना अपना अधिकार समझता था। वाहन आदि भी दहेज के रूप में लिये जाते थे।[9] सहज उपलब्ध ने होने पर दहेज बलपूर्वक भी लिया जाता

---

1. यादवाभ्युदय- 24/51
2. यादवाभ्युदय- 19/15
3. यादवाभ्युदय- 1/89
4. यादवाभ्युदय- 19/44
5. यादवाभ्युदय- 22/113
6. यादवाभ्युदय- 2/49
7. यादवाभ्युदय- 22/148
8. यादवाभ्युदय- 14/23, 18/104
9. यादवाभ्युदय- 18/104

था।[1] कन्या का परिवार वर पक्ष के अधीन हो जाता था।[2] विवाह धूमधाम से करने के कई दृष्टान्त मिलते हैं। जीवन का महत्वपूर्ण संस्कार मानकर लोग इसे उत्सव के रूप में मानते थे।[3] इस अवसर पर वाद्य, नृत्य, गीत आदि का आयोजन किया जाता था।[4] गायक, नर्तकों को पारितोषिक दिया जाता था।[5] विवाह के पहले वधू को आभूषणों से अलंकृत किया जाता था।[6] वधू मांगलिक माला और अक्षत आदि का प्रयोग करती थी।[7] उसके हाथों में रक्षा सूत्र बांधा जाता था।[8] विवाह के अवसर पर लाजा होम का प्रचलन था।[9] एक से अधिक विवाह प्रचलन थे। महाकाव्य के प्रथम सर्ग में ही उल्लेख है कि वसुदेव के रोहिणी और देवकी दो पत्नियाँ थी। रूक्मिणी हरण को मर्यादित दृष्टि से प्रस्तुत करने के बावजूद यह स्पष्ट है कि माता-पिता की इच्छा के विपरीत वर-कन्या विवाह के लिए सामाजिक बंधनों की परवाह नहीं करती थी। महाकाव्य के त्रयोदश सर्ग में उल्लेख है कि कृष्ण उस समय रूक्मिणी का हरण करते हैं, जब शिशुपाल से उसका विवाह निश्चित हो चुका था।

---

1. यादवाभ्युदय- 20/94
2. यादवाभ्युदय- 20/92
3. यादवाभ्युदय- 20/99
4. यादवाभ्युदय- 113/81
5. यादवाभ्युदय- 13/77
6. यादवाभ्युदय- 13/182
7. यादवाभ्युदय-118/83
8. यादवाभ्युदय- 13/84
9. यादवाभ्युदय- 13/85

(iv) लोकाचारः-

समाज में तरह-तरह की मान्यताओं पर लोग विश्वास करते थे। बच्चों को नजर, टोना, ग्रह आदि के प्रकोप से बचाने के लिए सिंह का नख पहनाया जाता था। भूत-प्रेतादि में विश्वास और पिशाचादि के अभिभूत होना भी पाया जाता था। भाग्यवाद में विश्वास किया जाता था। अपनी छाया के समान नियति (भाग्य) का कोई उल्लंघन नहीं कर सकता है। शकुन आदि में भी विश्वास प्रचलन में था। सुख-दुःख को नियति का परिणाम माना जाता था। यादवाभ्युदय के तेइसवें सर्ग में कवि कहते हैं कि पूर्व जन्मों में किये गये पापों के फलस्वरूप विपत्तियों को सहन करना ही पड़ता है।[1] समाज में अन्य धार्मिक मान्यताएं भी प्रचलित थी श्राद्धादि में विश्वास किया जाता था। पिण्डदान होता था।[2] नवन्न प्राशन के पूर्व लोग देवबलि प्रदान करते थे।[3] देवोत्सवयात्राये की जाती थी। लोग नगरों और वीथियों की परिक्रमा करते थे।[4] रजस्वला स्त्री के समीप जाना अनुचित समझा जाता था। उसके साथ सम्भोग निषिद्ध था व अत्यत्न गर्हित समझा जाता था। प्रमादवश ऐसा हो जाने पर लोग लज्जित होकर स्नानादि करने के पश्चात् पवित्र होते थे।

---

1 यादवाभ्युदय- 23/4
2 यादवाभ्युदय- 22/94
3 यादवाभ्युदय- 18/73
4 यादवाभ्युदय- 24/19

(v) क्रीड़ोत्सवः-

उत्सवों के माध्यम से प्रसन्ता और विशेष अवसर को अभिव्यक्त किया जाता था। पुत्र जन्मादि के अवसरों पर हर्षोल्लास से उत्सव मनाये जाते थे। दान दिया जाता था। ग्रामवासी ऐसे अवसरों पर पूर्ण सहयोग प्रदान करते थे।[1] विवाह और विजय के अवसर पर भी उत्सव मनाये जाते थे।[2] गीत के साथ मृदंग, वीणा, दुन्दुभी आदि वाद्यो का भी प्रयोग किया जाता था।[3] महोत्सवों पर बन्दियों, सेवकों तथा बन्धुओं में यथोचित वस्तुयें वितरित की जाती थी।[4] नगर और भवन सजाये जाते थे। राजमार्ग पर पत्थरों के चूर फैलाये जाते थे।[5] जल का छिड़काव करने के लिए बांस की पिचकारी प्रयोग में लायी जाती था।[6]

युवकों द्वारा आसव सेवन किया जाता था।[7] मद्य पीकर लोग मत्त हो जाते थे। अंगूर की मदिरा प्रयोग में लायी जाती थी। द्यूत क्रीड़ा का विशेष प्रचलना था।[8] द्यूत में अपना सर्वस्व दांव पर लगा देने में भी लोग हिचकते नहीं थे।

---

1. यादवाभ्युदय- 2-64,65
2. यादवाभ्युदय- 20-99
3. यादवाभ्युदय- 24-42
4. यादवाभ्युदय- 24-30
5. यादवाभ्युदय- 22-112
6. यादवाभ्युदय- 8-108
7. यादवाभ्युदय- 8-1
8. यादवाभ्युदय- 16-84, 24-48

(vi) जन-जीवन :-

यादवाभ्युदय महाकाव्य के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज में लोगों का सामन्य जीवन सुख समृद्ध से पूर्ण था। स्त्री-पुरुष आमोद-प्रमोद युक्त जीवन व्यतीत कर रहे थे। मनोरंजन के तमाम साधन उनके आस-पास मौजूद थे। गृही अपने घरों में अनेक प्रकार की क्रीड़ायें किया करते थे। जल विहारार्थ वापिकायें रहती थी। उसमें वे जलक्रीड़ायें करते थे।[1] दोलारोहण करते थे। स्त्रियों को पुरुष झुलाया करते थे।[2] आंखमिचौनी खेलते थे।[3] ग्रीष्म ऋतु में यन्त्र धारयुक्त शीतल भवनों में लोग निवास करते थे।[4] वासगृहों में दीपक जलाये जाते थे, सुगन्ध के लिए अगुरु का प्रयोग किया जाता था।[5] दम्पति प्रहेलिकाओं का प्रयोग करते थे, जिसे उनका शिक्षित होना प्रतीत होता है।[6]

पशु-पक्षियों का पालन कृषि व व्यापार सभी उत्तम कोटि का था। धान के खेतों की निराई की जाती थी।[7] नावों के माध्यम से मणि, मुक्तादि रत्नों का व्यापार होता था।[8] नावों द्वारा व्यापार किये जाने से यह प्रतीत होता है कि व्यापार स्वदेश में ही नहीं, अपितु विदेशों में भी किया

---

1. यादवाभ्युदय- 24-24
2. यादवाभ्युदय- 24-26
3. यादवाभ्युदय- 24-33
4. यादवाभ्युदय- 24-35
5. यादवाभ्युदय- 24-72
6. यादवाभ्युदय- 24-82
7. यादवाभ्युदय- 22-147
8. यादवाभ्युदय- 22-97, 102

जाता था। मृगया खेलने के लिए मृगयु (शिकारी) मार्ग के किनारे झाड़ियों में या गड्ढों में छिपकर बैठते थे।[1]

गुणीवान लोगो का समाज में विशेष मान था। सहृदय विद्वान् गुणो की ओर ही ध्यान देते थे, कहीं यदि प्रमादवश दोष भी दिखायी पड़ जाते थे तो बुरा नहीं मानते थे[2]। कुटुम्ब के आपसी सम्बन्ध बहुत अच्छे थे प्राप्त वस्तु को संविभक्त करके लोगो को दिया जाता था।[3] अग्रजों के खा लेने के अनन्तर कनिष्ठजन अवशिष्ट सामग्रियों का उपभोग करते थे।[4]

(vii) लोक-ज्ञान :-

उत्तर और दक्षिण भारत की वृहद यात्रा से प्राप्त प्रत्यक्ष अनुभव का लोभ वेदान्तदेशिक को मिला। इसीलिए उनके काव्यों में विभिन्न देशों का लौकिक स्थिति का स्पष्ट एवं स्थार्थ चित्रण सुलभ है। उन्हानें न केवल अपितु हिमालय पर्यन्त प्रसृत वर्तमान भारत के अनेक भू-खण्डों एवं नगरों का चित्रण किया है, अपितु, गूर्जर, पारसी, शक, यवन, बर्बर, हूणादि जातियों पर विजय तथा सिंधु, कम्ब्रोज, काश्मीर, नेपाल एवं लंका आदि देशों का वर्णन करके उनकी भारत से अखण्डता सूचित की है।

यादवाभ्युदय में वेदान्तदेशिक ने कश्मीर की स्त्रियों को पुरुषधर्मा तथा कश्मीर को स्त्री देश कहा है।[5] कश्मीर के अपूर्व सौन्दर्य को देखकर

---

1. यादवाभ्युदय- 7-18
2. यादवाभ्युदय- 1-7
3. यादवाभ्युदय-24-30
4. यादवाभ्युदय- 4-74
5. यादवाभ्युदय- 22-113

कवि उसके वर्णन का मोह संवरण न कर सका। वहां की अन्य वस्तुओं की तो उपेक्षा की जा सकती है, किन्तु केशर का चर्चा किये बिना वहां का वर्णन अधूरा ही रहता है। अतः कवि सर्वप्रथम वहां केशर उत्पन्न होने का उल्लेख करता है। वहां अच्छिन्न प्रवाह वाला बालुका नदी बहती थी और धूप रहित रमणीय वनों से पृथ्वी सुशोभित रहती थी।[1] हिमालय में चमर, सिंह और कस्तूरी मृग रहते थे।[2] वहां के निवासियों के परिधान विशेष प्रकार के होते थे। शवरांगनायें गुंजो का हार मयुर पिच्छ का मुकुट एवं पल्लवों के वस्त्र पहनती थी।[3] बदरिकाश्रम का वर्णन किये बिना हिमालय से नीचे उतर आना कवि के लिए सम्भव नहीं था। वदरिकाश्रम को देखकर कवि मुग्ध हो जाता है। इसका मुख्य कारण कवि की दृष्टि में यह था कि इस कलियुग में भी वहां पर धर्म पूर्णरूपेण रक्षित था। कवि नेपाल की ओर बढ़ता है।[4] नेपाल का प्राकृतिक सौन्दर्य अति रमणीय था। रतिश्रान्त विद्याधर मिथुन यहां श्रमापनोदन करते थे। देवांगनायें विश्वास पूर्वक निवास करती थीं यहां की रमणियां अपने कपोल स्थलो पर कस्तूरी लगाती थी। जिसकी सुगन्ध चारों ओर फैलती रहती थी। यहां के पर्वत भी कस्तूरी की सुगन्ध से सुवासित रहते थे।[5]

---

1. यादवाभ्युदय- 22-111, 112
2. यादवाभ्युदय- 22-123
3. यादवाभ्युदय- 22-124
4. यादवाभ्युदय- 18'53
5. यादवाभ्युदय- 22-128

आर्यावर्त (विन्ध्य हिमालय के मध्य स्थल) को वेदान्तदेशिक ने बड़ा गौरवपूर्ण स्थान दिया है। यह पुण्यक्षेत्र आर्यजनों से सुशोभित रहता था।[1] इस क्षेत्र में अनेक तीर्थ और तपोवन थे। परन्तु यहां भी समय ने अपना प्रभाव दिखाना प्रारम्भ कर दिया था। धर्म की ओर लोगों की प्रवृत्ति नही रह गयी थी। कलिकाल के प्रभाव से वैदिक मार्ग का अनुसरण करने वाले बहुत कम लोग रह गये थे। विदेशियों के गमनागमन तथा संस्कृति संश्लेषण से यहां का धर्म भी विकृत हो चला था। प्राच्य, औदाच्य और पाश्चात्य प्रणालियों से यह प्रदेश भी व्याप्त हो गया था। आर्यावर्त का वर्णन करते हुए कवि अयोध्या की ओर अपनी दृष्टि डालता है। अति प्राचीन काल से धर्म और राजनीति का केन्द्र रही है। अयोध्या सरयू के पावन तट पर स्थिति होकर अपनी उत्ताल तरंगो के कल-कलके प्राचीन अयोध्या के वैभव का आज भी मान करता है। यहीं पर अवतार लेकर राम ने धर्मस्थापन किया था रघुवंशी राजाओं ने अनेक महायज्ञ किये थे।[2] श्याम सलिला यमुना के तट पर स्थित मथुरा नगरी में धर्म की स्थिति पर विशेष प्रकाश डालकर कवि वहां के मनोहर प्राकृतिक दृश्यों और जन जीवन का वर्णन करने लगता है। इस क्षेत्र मे धान की अच्छी खेती होती थी।[3] यहाँ के निवासियों की वेश-भूषा भी कुछ असाधारण प्रकार की थी।[4] अन्य कई दृष्टान्तों से पता चलता है कि कवि उत्तर भारत के तीर्थ

---

1. यादवाभ्युदय- 18-63
2. यादवाभ्युदय- 6-26, 27
3. यादवाभ्युदय- 18-76
4. यादवाभ्युदय- 22-100

स्थानों की दुर्दशा से क्षुब्ध थे। उन्हें ऐसा कोई स्थान नहीं मिला जहाँ वे सन्त बनकर निवास कर सकें। दिव्य तीर्थस्थली की तलाश में वे दक्षिण की ओर चल पड़े।

इस प्रकार हम देखते है कि तात्कालीन समाज का एक स्पष्ट चित्र वेदान्तदेशिक की दृष्टि में था जो कि स्थान-स्थान पर उनकी कृति में चित्रित हुआ है। इस लोक चित्रण के अतिरिक्त उन्होनें अनेक पर्वतों, नगरों, जातियों, नदियों आदि का भी वर्णन किया है। एक ही पर्वत या नदी का अनेक बार भी वर्णन मिलता है। कुछ पर्वतों नगरों और देशों का नाम तो समान रूप से उनका तीनों कृतियों में मिलता है। इन कृतियों में ऐसे प्रसंग ही उपस्थित हुए है कि कवि आसेत हिमालय रमणीय पावनस्थली को वर्णन करने का अवसर मिला है। 'यादवाभ्युदय महाकाव्य' में दिग्विजय के प्रसंग में भारत के सभी राज्य और उसके पड़ोसी देश वर्णित हुए है।

अष्टम-अध्याय

आचार्य वेङ्कटनाथ (वेदान्तदेशिक) की बहुज्ञता

अध्याय-8

'आचार्य वेङ्कटनाथ (वेदान्तदेशिक) की बहुज्ञता'

ज्ञानराशि के संचित कोष का नाम ही साहित्य है। कवि द्वारा अधीत समस्त वाङ्मय, सामाजिक परम्परायें और मान्यतायें, सांस्कृतिक गौरव आदि उसकी कृतियों में झलकते रहते हैं। केवल प्रतिभा या अभ्यास सहृदय श्लाह्य काव्य की रचना में हेतु नहीं हो सकते। व्युत्पत्ति या अभ्यास से परिष्कृत प्रतिभा हो उत्तम काव्य की सृष्टि में हेतु मानी गयी है।[1] यह व्युत्पति ही कवि द्वारा अधीत एवं स्वायती कृत ज्ञानराशि है, इसे ही कवि की बहुज्ञता कह सकते हैं। उसका संचय कवि वेद, वेदांग, पुराण, इतिहास, तथा अन्यान्य शास्त्रों एवं विभिन्न कलाओं के अनुशीलन द्वारा करता है। इससे कवि की नवनवोन्मेषशालिनी बुद्धि (प्रतिभा) परिष्कृत होकर सहृदयहृदयाल्हादक उत्तम काव्य रत्न का सर्जन करती है। व्युत्पत्ति के अभाव में केवल कोरा प्रतिभा द्वारा सृष्ट कृति रूपवती भिखारिणी के समान सम्मान नहीं पाती है। जिस प्रकार कुलीनता, गुण एवं सम्पत्ति के अभाव में रूपवती भिखारिणी दर-दर ठोकरें खाती है स्थान-स्थान पर तिरस्कृत होती है, रूपसौन्दर्य के कारण दुर्जनों के बचोवाणों को सहती हुई येनकेन प्रकारेण अपना जीवनयापन करने में समर्थ होती है, उसी प्रकार व्युत्पत्ति के अभाव में कवि की कृति विद्वानों द्वारा अनावृत होकर भाषासौष्ठव, (शब्दालंकार) आदि द्वारा चमत्कृत होने के कारण कतिपय

---

1 व्युत्पत्यभ्याससंस्कृता प्रतिभास्य हेतुः। (काव्यानुशासन प्रथमाध्याय)

(ग्राम्य) लोगों को अपनी ओर आकृष्ट करने में समर्थ होने पर भी आलोचकों का कोपभाजन बनकर सेवा के लिए मंजूषा का आश्रयण कर लेता है।

अस्तु व्युत्पत्ति उत्तम काव्यरत्न की सृष्टि में अनिवार्य तत्व है या नहीं यह एक विचारणीय विषय है। व्युत्पत्ति या बहुज्ञता को हम सरल भाषा में पाण्डित्य कह सकते हैं। पाण्डित्य उत्तम काव्य का हेतु हो सकता है, किन्तु उसे अनन्य हेतु नहीं कह सकते हैं। वस्तुतः उत्तम काव्य रत्न की सृष्टि में गम्भीर अनुभूति ही प्रमुख कारण है। जब कवि अन्यान्य विषयों का अनुभव करके उन्हें आत्मसात् कर लेता है तो वे अनुभूतियां उसका स्वाभाविक धर्म बन जाती है, इनसे प्रेरित होकर की गयी रचना में कवि अपना हृदय खोलकर रख देता है, जिसे पढ़ने से पाठक को ऐसा प्रतीत होने लगता है कि मानो यह अपने ऊपर बीती बात हो। वास्तव में यही साधारणीकरण है। साधारणीकरण में जहां पाठक की सहृदयताप्रमुख हेतु है वहीं कवि द्वारा अनुभूत विषयों का भी हृदयकारी वर्णन प्रस्तुत करता है। इसमें उसकी प्रतिभा ही प्रमुख हेतु है। अपनी प्रतिभा द्वारा वह अधीत एवं अनुभूत विषयों को तो चमत्कृत करके उपस्थित करता ही है, अन्य विषयों का भी यथार्थ एवं आदर्श सम्पृक्त रूप ढालने में समर्थ हो जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रतिभा पाण्डित्य एवं अनुभूति से भिन्न है। उससे उपकृत होने पर भी पाण्डित्य एवं अनुभूति उसके पोषक हैं। पाण्डित्य एवं प्रतिभा के समन्वित रूप से सृष्ट काव्य निश्चय ही अनुभूति उसके पोषक हैं। पांण्डित्य एवं प्रतिभा के समन्वित रूप से सृष्ट

काव्य निश्चय ही अनुभूति एवं प्रतिभा समन्वित रूप से रचित काव्यों से भिन्न कोटि का होगा। अत: काव्यों का तुलनात्मक अध्ययन करते समय हम इन उभय प्रकारक काव्यों का मूल्यांकन एक मापदण्ड से नहीं कर सकते हैं। इनके स्वरूपभेद का कारण केवल हेतुओं की भिन्नता ही नहीं, अपितु प्रयोजन में भेद भी हो सकता है। काव्य प्रकाशकार ने जिन 6 प्रयोजनों को काव्यबीज के रूप में प्रस्तुत किया है, वे समस्त (यथासाध्य) या व्यस्त रूप में भी काव्य के प्रयोजन बन सकते हैं। किन्तु सकलप्रयोजनमौलिभूतं सध्य: परिनिवृत्ति (रसब्रह्मानन्द का अनुभव) ही है। कुछ विद्वान् सबसे बाद में उपस्थापित किये जाने के कारण कान्तसम्मिततयोपदेश को ही प्रमुख प्रयोजन मानते हैं, किन्तु हमारी समझ से इसे विवाद का विषय नहीं बनाया जा सकता। काव्य प्रकाशकार द्वारा वृत्ति में स्वयं सकल प्रयोजनमौलिभूतम् इत्यादि उल्लिखित होने के कारण इसका समाधान वहीं से हो जाता है। हां, इतना अवश्य ज्ञातव्य है कि अन्यान्य प्रयोजनों को लक्ष्य बनाकर लिखे गये काव्यों का मूल्यांकन एक तुला पर रखकर नहीं किया जा सकता है। उदाहरण के लिए कालिदास और वेदान्तदेशिक के काव्यों को ले सकते हैं। कालिदास के काव्यों का प्रमुख प्रयोजन ब्रह्मसहोदर रसानन्द की प्राप्ति कराना है किन्तु आचार्य वेदान्तदेशिक के काव्यों का प्रयोजन कान्तासम्मितोपदेश है। साक्षात् ब्रह्मानन्द प्रदान करने के लिए प्रवृत्त आचार्य तत्सहोदर रसानन्द के मोह में कैसे भटक सकता है, वह तो काव्यमुखेन सरसरीति से उन सदुपदेशों को प्राणियों तक पहुंचाना चाहते हैं, जिनसे जीवों का कल्याण हो सके। इसके लिए सांसारिक विषयों

का अनुभव (निवृत्यर्थ) जितना आवश्यक है, उससे अधिक शास्त्रों में व्युत्पत्ति (पाण्डित्य) (प्रवृत्यर्थ) आवश्यक है। यही कारण है कि इनके काव्यों में स्थान-स्थान पर शास्त्रीय पाण्डित्य भरा पड़ा है, जो कि रसानुभूति रूप काव्य प्रयोजन में गहुभूते माना जाने पर भी उपदेश रूप प्रयोजनान्तर की सिद्धि के लिए गुण तथा परमावश्यक तत्त्व है।

वेदान्तदेशिक के काव्यों को पढ़ने से उनकी बहुज्ञता का एक स्पष्ट रूप सामने आ जाता है। विभिन्न विषयों पर उनकी शताधिक रचनायें उनके बहुज्ञ होने का उद्घोष करती हैं। इसके अतिरिक्त उन्होंने अपने अगाध पाण्डित्य का परिचय स्वयं दिया है[1] जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। वे विद्या सम्पत्तियों के भाण्डार थे।

विश्व में सर्वाधिक प्राचीन संचित ज्ञानराशि रूप वाङ्व्मय भेद है। वेदों के विषय में वेदान्तदेशिक की व्युत्पत्ति होना स्वाभाविक है। अतः सर्वप्रथम वेद विषय बहुज्ञता का परिचय कराना ही अधिक समीचीन होगा।

(i) वेद

वेद से तात्पर्य चारों वेदों एवं उनके चारों भागों - संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् से है।

ऋग्वेद के अनुसार पुरूषोत्तम नारायण (पर ब्रह्म) के नेत्रों से चन्द्रमा का जन्म हुआ है।[2]

---

1 द्रष्टव्य प्रस्तुत प्रबन्ध का दर्शन अध्याय,

2 चन्द्रमा मनसो जातः। पृ0-110

यादवाभ्युदय में चन्द्रमा का जन्म इसी रूप में वर्णित हुआ है। कृष्ण के पुर्ववंश का वर्णन करते हुए कवि कहता है–'उन पुरूषोत्तम के मन से जगत् को आनन्दित करने वाला चन्द्रमा उत्पन्न हुआ।[1]

श्रुति कहती है कि 'ब्रह्म है यदि ऐसा कोई ज्ञान प्राप्त कर लेता है तो उसे परमात्मा (ब्रह्म) जानने लगता है अर्थात् आत्मरूपेण स्वीकार कर लेता है।[2] उसके सम्पूर्ण सुकृत और दुष्कृत समाप्त हो जाते हैं। उसके सुकृत प्रियजनों के पास तथा दुष्कृत अप्रियजनों (शत्रुओं) के पास चले जाते हैं।[3]

वेदान्तदेशिक कहते हैं कि भगवान् द्वारा स्वीकार कर लिए जाने पर इस संसार से मुक्त होने वाले प्राणी के पापसमूहों को सहारा देने वाला कोई नहीं रहता अर्थात् वे नष्ट हो जाते हैं।[4]

श्रुतियों से यह सिद्ध होता है कि एकमात्र ब्रह्म ही सत् है। पूर्व में वही एकांकी था। उसने एक होते हुए भी अनेक होना चाहा। उसने इच्छा की कि लोकों की सृष्टि करूं। उस समय न ब्रह्म थे, न शिव थे, और न आकाश, पृथ्वी, नक्षत्र, जल, अग्नि, सोम या सूर्य ही थे। उसे अकेले

---

1 जगदाह्लादनो यज्ञै मनसस्तस्य चन्द्रमाः ।–या0 1–10

2 अस्ति ब्रह्मेति चेद्वव सन्तमेनं ततो विदुः

3 तत्सुकृत दुष्कृते विधूनूते। तस्यप्रिया ज्ञातयः सुकृतम्पयुंजन्त्याश्रियां दुष्कृये – कौषी0 उ0 1–14

4 त्वदालम्बित हस्तानां भयादुम्भज्जतां सताम्। या0 1/60

अच्छा न लगा अतः उसने लोकों की सृष्टि की। उसी परमात्मा की श्री और लक्ष्मी पत्नियां हैं।[1]

वेदान्तदेशिक एक छोटे से श्लोक में उन समस्त श्रुतियों का स्वारस्य प्रतिपादित करते हैं। वे कहते हैं कि श्रियः पति निरतिशय वैभवशाली, परमात्मा ने अकेले ही इस दृश्यमान जगत की सृष्टि अपने में ही कृपावश लीलामात्र के लिए स्वयं की।[2]

सृष्टि से पूर्व यह प्रपंच अव्याकृत था परमात्मा ने नाम और रूप से उसकी व्याकृति की।[3] इसके लिए उसने जीव रूप से स्वयं प्रवेश किया।[4]

इसी श्रुति सम्मत अर्थ का उल्लेख वेदान्तदेशिक करते हुए कहते हैं कि विश्वाधिक शक्ति अद्वितीय परमात्मा ने समस्त नामों और रूपों की रचना की।[5] श्रुति कहती है कि जो व्यक्ति अपने देवता का परित्याग करके दूसरे देवों की उपासना करता है, वह परम पद नहीं पाता है, अपितु पापयुक्त होता है।[6]

---

1 सदैव सोम्येदमग्र आसीदेकमेषाद्वितीयम्। छा0 6-2-1
आत्मा वा एवमेक स्वाग्र आसीत् नान्यत् किंचिन्न मिषत्। स रक्षत लोकान्नु सृजा इति। ऐ0 ब्रा0 1-1-1
एको ह वे नारायण आसीत्, न ब्रह्म नेशानो नेमे द्यावापृथिवी न नक्षत्राणि ....महोपनिषद् 1/1 श्रीश्चते लक्ष्मी श्च पत्यो - पुरुषसूक्त-क0 10। तै0 आ0 3-13

2 क्रीडातूलिकया स्स्मिन् कृपारूषितया स्वयम्।
एको विश्वमिदं चित्रं विभुः श श्रीमानजीजनत्।। या0 1-9
3 तद्वैदं तह्र्यव्याकृतमासीत् तनाम रूपाभ्यां व्यक्रियत् पृ0 3-4-4
4 अनेन जीवेनात्मानानुप्रविश्य नामरूपैव्याकरवाणि छा0 6-3-2
5 विश्वानि विश्वाधिक शक्ति रेको नामानि रूपाणि च निर्मिमाणः या0 4-16
6 योवा स्वां देवतामतियजते प्रस्थाये देवताये च्यवते, न परां प्राप्नोति, पापीयान्मवति।

इसी भाव को लेकर आचार्य वेदान्तदेशिक इन्द्र की उपासना न करके, गोवर्धन की पूजा करने का समर्थन करते हुए कहते हैं- यदि कोई व्यक्ति अपने देवता का अतिक्रमण करके देवतान्तर की पूजा करता है तो वह इस लोक से और परलोक से भी च्युत होता है, साथ ही पापभाजन भी बनता है।[1]

श्रुति स्पष्टतम से प्रतिपादित करता है कि बालक, क्षत्रिय उस परमात्मा के खाद्य (ओदन) सामग्री है, मृत्यु उसके लिए चटनी (उपलंपन) है तो भला कौन समझ सकता है कि उसका परम पद कहां और कैसा है।[2] इसमें ब्राह्मण और क्षत्रिय पद से समस्त जगत उपलक्षित हुआ है।

वेदान्तदेशिक दो स्थानों पर इस श्रुति का स्वारस्य प्रतिपादित करते हैं। प्रथम तो वे गोवर्धन पूजा के प्रसंग में कहते हैं कि सम्पूर्ण भुवनों की मृत्यु रूप भोजन तथा अनन्य भक्तों द्वारा प्रदत्त हव्य काव्य से भी तृप्त न होने वाले विश्वपालक गोपों द्वारा लायी गयी सामग्रियों का उपभोग करके परम प्रसन्न हुए।[3] द्वितीय द्वारका आते हुए नारद द्वारा कृष्ण की स्तुति रूप में उक्त श्रुत्यर्थ को पुनः वेदान्तदेशिक उसी रूप में प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि हे नाथ, यह जगत तुम्हारा जीवन है इसी जगत का नाश करते हुए मृत्यु तुम्हारे लिए उपसेचन है।[4]

---

1 अतियजेत निजां यदि देवतामुमयतरच्यवते जुषतेऽप्यपम् या0 6-4

2 यस्य ब्रह्म च क्षात्रं च उमां भवत ओदनः।
मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्या वेद यत्र सः।। क0 2-25

3 मृत्युपसिक्तैर्भुवनैरशेषैरनन्यदत्तैरपिहव्यककयैः।
अलव्धपूर्वाभभजत्तदानीं गोपाहृतेः प्रीतिमेशेषगोप्ता।। या0 6-9

4 अथवा जगदेतदोदनं से तदुपघ्नन्नपुपसेचनं च मृत्युः या0 15-21

श्रुतियों से विष्णु में ही आदि और अन्त भावसिद्ध होता है। श्रुति कहती है कि अग्नि चरम देवता है, विष्णु परम देव हैं, अन्य देवता उन्हीं के मध्य में है।[1] इसी को आचार्य वेदान्तदेशिक नारद स्तुति में कहते हैं कि तुम्हीं प्रथम और चरम देवता हो।[2]

जिस प्रकार पक्षीसूत्र से बांध दिया जाता है उसी प्रकार परमात्मा सभी जीवों से बंधा रहता है।[3] इस श्रुत्यर्थ का अनुसन्धान करके वेदान्तदेशिक कहते हैं कि परमात्मा का स्वरूप सूत्र के समान है, उसमें स्थित जीवों के साथ वह पक्षियों के समान क्रीडा किया करता है।[4] कहने का तात्पर्य यह कि सभी जीवों में व्याप्त होकर परमात्मा सब का नियमन किया करता है।

द्वारका के महलों का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि उनसे ऐसी प्रभा निकलती थी, जैसे दूसरा कोई सूर्य उदित हो गया हो, अर्चि (अग्नि) मुख देवगणों द्वारा इसके दिव्य स्थल पूजे जाते थे, अतः इसे लोग मोक्षोपयोगी निवृत्ति धर्म में स्थित मुमुक्षुओं का निःश्रेयस मार्ग कहते थे।[5] कहने का तात्पर्य यह कि मुमुक्षुओं के लिए अर्चिमार्ग का स्थापन श्रुतियों में किया गया है।[6] अर्चिरादिमार्ग का सेवन करने वाले मुमुक्षु जब अपने

---

1 अग्निवे देवानामवमो विष्णुः परमस्तन्तरेण सर्वा अन्या देवताः ऐ0 ब्रा0 1-1

2 प्रथमाचरमा च देवता त्वम् याद0 15-21

3 स यथाशकुनिः सूत्रेण प्रबद्धः छा0 6-82

4 विहरस्यात्मसूत्रस्यैः शकुनैरिव जन्तुभिः या0 16-117

5 स्वरशिमनिष्पादितसूर्यभेदामर्चिर्मुखैरंचितभव्यभागाम्।
निवृत्तिधर्मे नियतस्थितीनां नेश्श्रेयसी पद्धतिमाहुरेनाम्।। या0 18-119

6 तेऽर्चिषभमिसम्भवन्ति छा0 5-15-5

शरीर का परित्याग करते हैं तो सूर्य की किरणों के माध्यम से ऊपर चले जाते हैं।[1] द्वारका के महलों को द्वितीय सूर्य बनाकर उनकी किरणों से मुमुक्षुओं के ऊर्ध्वमार्ग सेवन का विधान करना, यहां पर कवि को अभीष्ट है।

श्रुति कहती है कि जिस प्रकार कमल के पत्ते से जल का संश्लेष नहीं होता, उसी प्रकार ब्रह्म ज्ञानी पाप कर्मो से सम्पृक्त नहीं होता है।[2] यही नहीं, जिस प्रकार अग्नि में तूल राशि जल न जाती है, उसी प्रकार ब्रह्मविधि के सभी पाप नष्ट हो जाते हैं।[3]

सूर्योदय से अन्धकार समाप्त हो जाने का दृष्टान्त देते हुए उक्त श्रुतियों का स्वारस्य लेकर आचार्य वेदान्तदेशिक कहते हैं कि सूर्य अन्धकार का नाश करते हुए उसी प्रकार निकल रहे हैं, जिस प्रकार अन्तर्यामी परमात्मा दहरविधादि उपासकों के पापराशि को समाप्त कर देता है।[4]

शास्त्रों में रथरूपक देते हुए आत्मा को रथी और शरीर को रथ कहा गया है, इन्द्रियां उस रथ को घोड़े हैं, जिनका नियमान अन्तरात्मा करता है।[5] आचार्य वेदान्तदेशिक इसकी इसी रूप में उल्लेख करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार परमात्मा जीवाश्रय देहरथ में निबद्ध इन्द्रियाश्वों

---

1 अथ यत्रेतस्माच्छरीरादुत्क्रामति, अथैतेरेव रश्मिभिरूर्ध्वमाक्रयते छा0 8-6-5

2 तयया पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्ते, स्वमेवं विदि पापं कर्म न श्लिष्यन्ते छा0 4-14-3

3 तद्ययेषकातूलमग्नो प्रोतं प्रदृयते, एवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदुयन्ते छा0 5-24-3

4 निश्शेषयन्नयमुदेति मयूखमाली विद्यावतां वृजिनराशिमियान्तरात्मा या0 19-47

5 आत्मानं रथिनंविद्धि शरीरं रथमेवतु या0 3-3

पर नियन्त्रण करता है, उसी प्रकार भगवान कृष्ण अर्जुन के रथ के सारथी बने।[1]

वेद कहता है कि भगवान के एक वंश से समस्त विश्व की सृष्टि हुई है।[2] वही अर्जुन के रथ के एक भागह में सारथी के रूप में बैठ गये।[3]

(ii) इतिहास पुराण

वेदान्तदेशिक के काव्य ऐतिहासिक एवं पौराणिक उपाख्यानों तथा संकेतों से परिपूर्ण है। यादवाभ्युदय महाकाव्य में कृष्ण का चरित वर्णित होने के कारण श्रीमद्भागवत पुराण तथा महाभारत के कथानकों का जाना स्वाभाविक है। हंस सन्देश के विषयक में तृतीय अध्याय में बताया जा चुका है कि वह एक ऐतिहासिक खण्ड काव्य है। अत: उसमें बाल्मिकी रामायण के कथानक संकेतों का रहना भी प्रकृति सिद्ध है। इतिहास पुराण के अनेक वचनों का स्वारस्य लेकर अपने सिद्धान्त की स्थापना करने के कारण संकल्प सूर्योदय में भी उनका संकेत मिलता है। इस तरह इतिहास पुराण के इन प्रासंगिक संकेतों से वेदान्तदेशिक के काव्यों की गरिमा में अत्यधिक उत्कर्ष आ गया है।

अधिकांश ऐतिहासिक संकेत एक ही बार आये हैं। यदि किसी कथानक की ओर अनेक बार संकेत हुआ है जो विभिन्न दृष्टियों से उनकी

---

1 यथानियच्छत्यमिन्द्रियाश्वान् जीवाश्रये देहरथेनिबद्धान् या0 23-3

2 पादो स्य विश्वाभूतानि पुरूषसूक्त या0 10

3 यादवाभ्युदय 23-39

चर्चा की गयी है, अतः पुनरावृत्ति उसे नहीं कहा जा सकता है। उदाहरण के लिए ययाति का उपाख्याान लिया जा सकता है। ययाति की कथा महाभारत[1] और भागवत पुराण[2] में वर्णित है। वेदान्तदेशिक ने इस उपाख्यान की ओर दो बार संकेत किया है। सर्वप्रथम उनके जन्म के विषयक में कहा गया है कि उत्साह से वीर रस के समान नहुष से ययाति का जन्म हुआ, जिसने आगे चलकर इन्द्र के अर्धासन को ग्रहण किया।[3]

द्वितीय बार कृष्ण द्वारा शासनसूत्र संचालन के विषयक में है। कृष्ण ने सभी राजाओं को अपने प्रताप से जीत कर ययाति के शाप को निरस्त कर दिया।[4] उन्होंने क्षात्र वृत्ति का परित्याग कर चुके यदुवंश का ययाति के शाप सागर से उद्धार किया।[5]

सर्वप्रथम कृष्ण चरित से सम्बन्धित भागवत महापुराण में वर्णित एवं वेदान्तदेशिक द्वारा उद्घृत कथाओं का सिंहावलोकन कर लेने के अनन्तर अन्य इतिहास पुराणों के कथासंकेतों पर विचार किया जायेगा।

श्री मद्भागवत के दशम स्कन्ध में कृष्ण चरित का वर्णन किया गया है। उसी के आधार पर वेदान्तदेशिक ने अपने महाकाव्य की रचना की है। अतः वहां के प्रमुख स्थलों का दिग्दर्शन मात्र यहां किया जा रहा है। यादवाभ्युदय में भागवत के आधार पर कृष्ण जन्म, वसुदेव द्वारा ब्रज

---

1 महाभारत

2 भागवत पुराण 9-18

3 वीरो रस इवोत्साहान्नाहुषादभ्य जायत। ययातिर्नाम येनैन्द्रमर्धासनमविष्टितम् या0 1-16

4 आसगरान्तमवमत्य महीपतीन्द्रान भुम्ना निजेन परिहुत्य ययातिशाधम् या0 10-128

5 क्षिप्तावयं क्षत्रियवृत्यावहुशाखं भग्नं शापोदन्वति मान्यं यदुवंशम् या0 10-129

जाकर यशोदा की कन्या से परिवर्तन, कंस के हाथ से कन्या का आकाश में जाना और कंस हन्ता के जन्म की सूचना, पूतनावध, शकटनाश, यमलार्जुनोद्धार, कालियदमन, चीरहरण, गोवर्धन धारण, रासलीला, अरिष्टमर्दन, धेनुकवध, बलराम द्वारा प्रलम्बवध, अधासुर विदारण, वेशीवध (9-27) अक्रूर द्वारा कृष्णराम का मथुरा लाया जाना (9-221) कुवलयापीडवध (10-24), चाणूरवध (10-50), बलराम द्वारा मुष्टिकवध (10-51), तोसकलादि वध (10-54), कंस वध (10-57), सुदाम वध (10-60), जरासन्ध द्वारा अठारह बार आक्रमण (11-5), मुचुकुन्द द्वारा काल पवन का नाश कराना (11-6), काल यवन वृत्त (11-8) द्वारका को राजधानी बनाना (11-9 से 78 तक), बलराम का पुनः ब्रज में जाना, हल से यमुना को खींचकर विहार करना (11-79), बलराम का रेवती से विवाह (11-81), रूक्मिणी जन्म एवं बाल्य वर्णन (सर्ग 12), रूक्मिणी हरण (सर्ग 13), स्यमन्तकोपाख्यान, जाम्बवान से 21 दिन तक युद्ध, जाम्बवती परिणय (14-1 से 65 तक) सत्यभामा परिणय (14-70), अन्य पांच कन्याओं से विवाह (14-75), शिशुपाल वध (सर्ग 15), नरकासुर वध (सर्ग 16), पारिजात हरण एवं इन्द्रकृष्ण युद्ध (सर्ग 17), बाणासुर के यहां अनिरूद्ध का बन्दी होना (18-105), कृष्ण बाणासुर युद्ध, कृष्ण शिव संग्राम (सर्ग 20) पौण्ड्रक और काशीनरेश का वध (21-1 से 45 तक), बलराम द्वारा द्विविन्द का वध (21-60), बलराम द्वारा कुरूराजधानी को खींचकर टेढ़ा करना (23-15) आदि कथाओं का वर्णन हुआ है। इनके अतिरिक्त कृष्ण चरित के विषय

में अन्य संकेत भी आये हैं, जिनका भागवत से सम्बन्ध नहीं है अपितु महाभारत आदि ग्रन्थों से है। जैसे-

देवताओं ने अमृत प्राप्त करने के लिए समुद्र का मन्थन किया। जिसमें अमृत के अतिरिक्त अन्यान्य रत्न प्रकट हुए। उनमें अपने चारों दांतों से भगवान शिव के आश्रयस्वरूप श्वेत गिरि (क्लेश) की कान्ति को भी हरने वाला ऐरावत नामक गजराज उत्पन्न हुआ।[1]

गजराजोत्पत्ति की कथा को ध्यान में रखकर वेदान्तदेशिक कहते हैं कि समुद्र में ऐरावत के समान पुरूरवा के वंश में नहुष उत्पन्न हुआ।[2]

भागवत में पृथु द्वारा पृथ्वी के दोहन की कथा आयी है। वेद, मुनि, गन्धर्व, राक्षस आदि ने स्वजातीय किसी विशिष्ट व्यक्ति को वत्स बनाकर पृथ्वी का दोहन किया था। उस समय पर्वतों ने हिमालय को वत्स बनाया था।[3] हिमालय की पुत्री पार्वती के साथ शिव का विवाह तो पुराण प्रसिद्ध ही है।[4] उनसे स्कन्द का जन्म हुआ था। इस प्रकार हिमालय स्कन्द के मातामह हुए।

---

1 तत ऐरावतो नाम वारणेन्द्रो विनिर्गतः।
दन्तैश्चतुर्भिः श्वेताद्रेरहरन्मगावतो भद्रद्युतिम्।। भा0 पु0 8-8-4

2 बभूवनहुष स्तस्मिन्नेरावत इवाम्बुवो।। या0 1-13

3 गिरयो हिमवद्वत्सा नानाधातून् स्वसानुषु।।
सर्वे स्वमुल्यवत्सेन स्वेरवेपात्रे पृथक् पयः।
सर्वकामदुघां पृथ्वीं दुदुहुः पृथुमाविताम्।। भा0 पु0 4-18-25,26

4 तस्मैरूद्राय महते मन्त्रेणानेवू दत्तवान्।
हिमांचलो निजा कन्या पार्वती, त्रिजमत्प्रसूम्।। शिव पु0 10 (शिव पार्वती विवाहोत्सव)

सात्यकि द्वारा द्विग्विजय के प्रसंग में हिमालय का परिचय देते हुए वेदान्तदेशिक उक्त कथाओं का भाव लेकर कहते हैं कि यह शिव के श्वसुर और स्कन्द के मातामह हिमालय पर्वत है। सभी रत्नों के उद्‌भव स्थान तथा धेनुरूपा पृथवा के बछड़े हैं।[1]

कौरवों एवं पाण्डवों के युद्ध में अभिमन्यु के मारे जाने पर अर्जुन ने सूर्यास्त के पूर्व जयद्रथ वध करने की प्रतिज्ञा की। युद्ध भूमि में जाते ही उन्होंने जयद्रथ के पास रथ ले चलने के लिए कृष्ण से कहा ताकि वह अपनी प्रतिज्ञा पूरी कर सके। अर्जुन को उधर जाता देखकर, दुर्योधन, कर्ण, वृषसेन, शल्य, अश्वत्थामा, कृपाचार्य और स्वयं जयद्रथ जैसे कौरवों की सेना के वीर आगे आ गये।[2] भीषण युद्ध होने लगा। इन 6 वीरों के बीच जयद्रथ अपने प्राणों की रक्षा के लिए खड़ा था। कृष्ण ने अर्जुन से कहा कि इन वीरों का वध किये बिना जयद्रथ मारा नहीं जा सकता है अत: मैं सूर्य को छिपाने के लिए एक योग (माया) करता हूं जिससे अकेला जयद्रथ यह समझेगा कि सूर्य अस्त हो गया है। फिर वह प्रसन्न होकर तुम्हारे सामने आ जायेगा और उन महारथियों से अपने को अरक्षित कर लेगा।[3] अंतत: ऐसा ही हुआ। जयद्रथ मारा गया।

उसी का उल्लेख करते हुए वेदान्तदेशिक कहते हैं कि भगवान कृष्ण की रक्षा करने में धृतव्रत हैं, उन्होंने सूर्य के अस्त न होने, पर भी दूसरों

---

1 श्वशुर मूतूनाथस्य स्कन्दमातामहं गिरिम्।
प्रसूति सर्वरत्नानां पृथ्वीधेनुतर्कणम्।। या0 22-116

2 महाभारत द्रोण पर्व 145-6, 8, 9

3 महाभारत द्रोण पर्व 146-62-65

को मुग्ध करने के लिए घोरान्धकार की सृष्टि करके सुहृद् अर्जुन की प्रतिज्ञा पूरी कराया।[1]

महाभारत युद्ध काल में अर्जुन शिव के लिए संगृहीत पूजा सामग्री कृष्ण को समर्पित करके पाशुपत अस्त्र प्राप्त करने के लिए कैलाश पर गये। उन्होंने शिव के समीप उसी सामग्री को देखा। आश्चर्य में पड़ने के साथ-साथ उन्होंने कृष्ण को साक्षात् अपरिच्छिन्न परब्रह्म समझा।[2]

वेदान्तदेशिक ठीक इसी रूप में इस वृत्त का उल्लेख करते हैं-

निवेशितां तस्य पदे च पूजां निशाम्य गंगामिव चन्द्रमौलौ।

अनन्यसामान्यममंस्त सख्युः संकोचवैदेशिकमीश्वरत्वम्।। या0 23-42

भक्तवत्सल भगवान् न केवल भक्तों की प्रतिज्ञा पूरी करते हैं, अपितु जब क्रुद्ध होकर भीष्म ने कृष्ण से अस्त्र ग्रहण कराने की प्रतिज्ञा करके पाण्डवों की सेना का भीषण संहार प्रारम्भ किया तो कृष्ण से नहीं देखा गया। भीष्म की प्रतिज्ञापूर्ति के लिए तथा कौरव सेना के विनाश के लिए उन्होंने अपना चक्र उठा लिया।[3] इसी आख्यान का स्वारस्य लेकर कवि कहता है कि शत्रुओं का वध करने से विरत होने के कारण रथ में रखे हुए चक्र को ग्रहण करते हुए कृष्ण ने शरणागत (भीष्म) की प्रतिज्ञा

---

1 दिवाकरेऽनस्तमितेऽतिगाढं तमस्सृजंस्तामसृमोहनार्थम्।
प्रपन्नरक्षाप्रतिपन्नदीक्षः सत्याभि सन्धं विदधे सखायम्।। या0 23-43

2 महाभारत द्रोण पर्व 81-2

3 महाभारत द्रोण पर्व 59-91

(कृष्ण से अस्त्र ग्रहण कराना) की रक्षा के लिए अपनी प्रतिज्ञा (अस्त्र न ग्रहण करना) का परित्याग कर दिया।[1]

सर्वमेध नामक यज्ञ में महात्मा महादेव ने अपनी ही आहुति देकर देवदेव पद प्राप्त किया था ऐसा महाभारत में उल्लेख किया गया है।[2] शिशुपाल को समझाते हुए भीष्म कहते हैं कि सर्वमेव याग करने वाले शिव ने आत्म नामक हरि स्वयं आहुति देकर इन्हीं कृष्ण के द्वारा देवों के भी देव हो गये तो क्या वहीं कृष्ण हम मनुष्यों द्वारा अपूजनीय हैं? अर्थात् उनकी पूजा तो हमें करनी ही चाहिए।[3] जो आत्मा के यथार्थ स्वरूप को जानकर अन्य रूप से समझता है वह चोरी करता है। आत्मा का अपहरण करने वाले (यथार्थ रूप न जानने वाले) उस चोर के द्वारा क्या पाप नहीं किया गया?[4] कहने का तात्पर्य यह कि जो आत्मा (परमात्मा-जीवात्मा) के वास्तविक स्वरूप को नहीं जानता, वह पाप का भागी बनता है।

उक्त तात्पर्य से वेदान्तदेशिक ने तीन स्थलों पर अपना विचार प्रकट किया है। युद्ध में पराजित इन्द्र कृष्ण की स्तुति करते हुए कहते हैं कि नाथ बाल्यावस्था से ही संसार में विदित आप (परमात्मा) की इस प्रकार

---

1 निवर्तितं वैरिजनोपमर्दात् न्यस्तं रथे चक्रमुपाददानः।
नतप्रतिज्ञानुपरोधहेतोः आत्मप्रतिज्ञामजहात्स्वतन्त्रः।। या0 23-40

2 महादेवः सर्वयज्ञे महात्मा हुत्वात्मानं देवदेवो अमूत्र।। म0मा0शान्ति 20-12

3 स च कश्चन सर्वमेघयज्वाहविरात्माऽमात्मुनैव हुत्वा।
यत एव बभूव देवदेवः स किमस्माभिरदैवतरनर्च्यः।। या0 15-64

4 योऽन्ययासन्तमाद्रभानुमन्यथा प्रतिपधृते।
कि तेन न कृत पाप चोरेणात्मापहारिणा।। म0मा0उधोग 42-35

(पुतनावर्थ, यमलार्जुनमोक्ष आदि) की महिमा को न समझने वाला चोर निश्चय ही सूर्य मण्डल को छिपाना चाहता है।[1]

यहां पर उक्त वचन का अनुशीलन करके कृष्ण के वास्तविक परब्रह्मरूप को न जानने वाले को चोर (तस्कर) कहा गया है।

कृष्ण इन्द्र को आश्वासन देते हुए कहते हैं-इन्द्र तुम्हारा कल्याण हो, देवगण विभद्रहित होकर निवास करें। आत्म वीर्य (अन्यथा) रूप पाप संघ का परित्याग करने वाले तुम लोगों (देवों) के पदों को असुर अपहरण न करें।[2]

यहां पर देवों को आत्म चौर्य से रहित अर्थात् परमात्म यथार्थ ज्ञान से मुक्त बताया है।

इसी प्रकार आत्मचौर्य को दुःख रूप नरक में गिराने वाले पापों में सबसे बड़ा पाप बताया है।[3]

कहने का तात्पर्य यह कि आत्मा में अन्यथा प्रतिपत्ति न केवल चौर्य हैं अपितु महापातक भी हैं।

महाभारत में स्पष्टरूम से कहा गया है कि कृष्ण द्वैपयन व्यास साक्षात् नारायण है। उनके परमात्मा के अतिरिक्त महाभारत का रचयिता

---

1 आकुमारमनुभावमीदृश नाथ विश्वादिदित तवक्षियन्।
हन्त नुनमहिमाशुनमण्डलं तस्करस्तरमसि गोप्तुमिच्छति।। या0 17-124

2 आत्मचौर्य दुरिताकरत्यजां मापहार्षुरसुराः पदानि वः।। या0 17-224

3 पाप्मनां तमसि पातयितृणामात्यचौर्यमधिराजपदस्थम्।। या0 21-20

भला और कौन हो सकता है।[1] इसके अतिरिक्त पंचमवेद के रूप में महाभारत की प्रामाणिकता का भी वहीं से प्रतिपादन होता है।[2]

वेदान्तदेशिक कहते हैं कि सामान्य और विशेष धर्म का पृथक-पृथक निरूपण करने वाली जो गीतोपनिषद् भगवान् से प्रादुर्भुत हुई थी उसे महाभारत वेद के वक्ता व्यास रूप में स्वयं उन्होंने ही ग्रहण किया।[3] कहने का तात्पर्य यह कि युद्धकाल में कृष्ण द्वारा उक्त श्लोकों को ही व्यास ने महाभारत में उद्धृत किया है, क्योंकि वे स्वयं कृष्ण ही हैं।

यज्ञ द्वारा चार प्रश्न किये जाने पर "क: पन्था:" का उत्तर देते हुए युधिष्ठिर ने कहा कि इस विषय में तर्क स्थिर नहीं हो पाते हैं अर्थात् अर्थो तर्क के द्वारा निर्णय नहीं किया जा सकता। श्रुतियों विभिन्न अर्थो का प्रतिपादन करती है। ऐसा कोई ऋषि नहीं है, जिसके वचनों को प्रमाणरूप में सभी स्वीकार करते हों। इस प्रकार धर्म का रहस्य बहुत गूढ़ है, उसे समझना बहुत कठिन है, अत: महापुरूष जिस मार्ग का आश्रयण कर चुके हों, उसी मार्ग पर चलना चाहिए। वही रास्ता है।[4]

प्रलयकाल में पृथ्वी महासमुद्र से डूब जाती है। पूर्वकल्प के समाप्त हो जाने पर नारायण सोकर उठते हैं और पृथ्वी के उद्धार की कामना

---

1 कृष्ण द्वैयायनं व्यासं सिद्धि नारायणं प्रभूम्।
को ह्यन्य: पुण्डरीकाक्षान्महाभारतकृद्भवेत।। शान्ति0 356।11

2 वेदानध्यापयाभास महाभारतपंचमान्।। शान्ति0 349-20

3 विभक्तसामान्यविशेषधर्मा प्रादुर्बभूवोपनिषत्प्रभोर्या।
स एव तां व्यासमुनिस्समीची पर्यग्रहीद्भारतवेदवक्ता।। या0 23-31

4 तर्को प्रतिष्ठा: श्रुतयो विभिन्ना: नेको ऋषिर्यस्य मतं प्रमाणम्।
धर्मस्य तत्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गत: स पन्या:।। म0मा0वन0 312-11

करते हैं। उन्होंने पूर्वकल्पों में जिस प्रकार मत्स्य, कूर्मादि शरीर धारण किया था उसी प्रकार इस कल्प में वाराह का शरीर धारण किया और जल में प्रविष्ट हो गये। कमल पत्र के समान स्निग्ध श्याम प्रफुल्ल कमललोचन महावराह पृथ्वी को दांत पर उठाकर महान् नीलांचल के समान रसातल से ऊपर आये।[1]

इसी प्रसंग का स्वारस्य लेकर प्रभातकाल का वर्णन करते हुए वेदान्तदेशिक कहते हैं कि वराह शरीर धारी नारायण द्वारा चिरकाल से समुद्र में डूबी हुई पृथ्वी के समान प्रभातकाल द्वारा अन्धकार में निमग्न बाहर लायी जाती है।

ब्रह्मा तथा अन्य सभी देव नारायण से अपने पदों पर अधिष्ठित होकर तत्तत्पदों का भोग करके अन्त में परम पद प्राप्त करते हैं।[2] इस पुराण वचन का आनुकूल्य लेकर वेदान्तदेशिक इन्द्र द्वारा कृष्ण भगवान् की स्तुति कराते हुए कहते हैं कि हम सब इन इन्द्रादि आधिकारिक पदों पर यावदधिकार अधिष्ठित हैं, आपके द्वारा प्रदत्त आपके परम पद का हम अनुभव करें क्योंकि हम सब आपके ही समीप निवास करते हैं।[3]

---

1 ततः समुत्क्षिप्य धरां स्वदंष्ट्या महावराहः स्फुटपद्मलोचनः।
रसातलादुत्पलपत्रसन्निभिः समुत्यितो नील हवाचलो महान्।। वि0पु01-4-26

2 ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्त प्रतिसचर। परस्यान्ते कृतात्मानंः प्रविशन्तिु परपवम्।। कृ0पु0पूर्वाध 12-27

3 आधिकारिकपदेषु ते वयं स्वेषु यावदधिकारमाहिताः।
प्रापितास्तव परं पदं त्वया निर्विशेम निविशेमहि त्वयि।। या0 17-94

इस कथन का समर्थन "यावदधिकारभवस्थिति राधिकारिकाणाम्[1]" इत्यादि वादरायण सत्र से भी होता है।

चन्द्रमा ने भाद्रशुक्ल चतुर्थी को मन्दाकिनी पर स्नान करती हुई गुरूपत्नी तारा का हरण कर लिया।[2] तारा द्वारा बहुत समझाये जाने पर भी वह नहीं माना। देवाताओं ने विशाल सेना के साथ बृहस्पति पर आक्रमण किया। इसी बीच चन्द्रमा बलि के घर से वापस जाते हुए शुक्राचार्य की शरण में चला गया। शुक्र ने शंकर की प्रार्थना की। चन्द्रमा शंकर की शरण में चला गया। शंकर ने उससे कहा तुमने भाद्रशुक्ल चतुर्थी को गुरूपत्नी का हरण किया है अतः इस तिथि को जो तुम्हें देखेगा, उसे पाप लगेगा।[3]

वेदान्तदेशिक चन्द्रमा के इस शाप से परिचित थे। यदु का परिचय देते हुए वे कहते हैं कि सदाचार हीन पुरूष की विद्या का सम्मान नहीं करते थे। क्योंकि क्या निर्मल होने के कारण (भाद्रपद शुक्ल) चतुर्थी का चन्द्र ग्रहण किया जा सकता है?[4] अर्थात् जिस तरह चतुर्थी का चन्द्र दर्शन त्याज्य है, उसी प्रकार आचारहीन की विद्या को भी वे तुच्छ समझते थे।

भगवान् कृष्ण विद्याध्ययन करने के लिए सान्दीपनि ऋषि के पास गये थे। उन्होंने एक मास में ही चारों वेदों का अध्ययन कर लिया और

---

1 ब्र0 सू0 3-3-31

2 ब्रह्मवैवर्त पु0 4-80-8

3 यस्माद्भाद्रचतुर्थयां तु गुरूपत्नीक्षतिः कृता।
तस्मात्तस्मिन् दिने वत्स पापदृश्यो युगे युगे।। ब्र0 वे0 4-81-54

4 इत्युवत्वा चतुरो वेदान् पठित्वा मुनियंगवात्।
मासेन परयाभवत्या दत्तवां पुत्रं मृतं पुरा।। ब्र0 वै0 4-102-25

गुरूदक्षिणा के रूप में पूर्वकाल में मृत गुरू-पुत्र को लाकर प्रदान किया था।[1] इसी का वर्णन करते हुए आचार्य वेदान्तदेशिक कहते हैं कि धनुर्वेद का शिक्षा देने वाले सान्दीपनि को परम पद प्राप्त किये हुए उनके पुत्र को दक्षिणा के रूप में दिया।[2]

(iii) धर्मशास्त्र

भगवान् कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि हे अर्जुन, मैं वेद, तपस्या, दान, मन से इस प्रकार नहीं देखा जा सकता हूँ। केवल अनन्य भक्ति के द्वारा ही मैं इस प्रकार (चतुर्भुज रूप में) जाना, वेता और प्राप्त किया जा सकता हूं।[3]

इसी का स्वारस्य लेकर आचार्य कहते हैं कि इस संसार मरूस्थल में परिश्रान्त प्राणियों के लिए आपकी भक्ति सुधा नदी में अवगाहन ही उपाय बताया गया है, अर्थात् इस संसार से छुटकारा पाकर आपको प्राप्त करने का मार्ग केवल आपकी भक्ति ही है।[4] इसी आशय से उन्होंने संकल्प सूर्योदय में स्पष्टरूप से कहा है कि-

---

1 हत्युक्त्वा चतुरो वेदान् पठित्वा मुनि पुंगवात्।
मासेन परया भवत्या दह्वा पुत्र मृत पुरा।। ब्र0 वे0 4-102-25

2 दिदेश सान्दीपनेये धनुर्वेदोपदेशिने।
स्वपदारूढ़तनयप्रत्यानयनदक्षिणाम्।। या0 10-106

3 नाहं वेदैर्न तपसः न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवं विधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा।।
भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।।
ज्ञातुं द्रष्टु च तत्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप।। गीता 11-53, 54

4 संसारमरूकान्तारे परिश्रान्तस्य देहिनः।
त्वदूभक्त्यमृतवाहिन्यामादिष्टमवगाहनम्।। या0 1-53

किंविज्ञानैः किं तपोदानयज्ञैः किं वान्यैश्च त्वल्परित्यागदीनैः।

ज्ञातुं द्रष्टुं तत्वतश्च प्रवेष्टुं शक्यं ब्रह्मनन्य नाजा त्वयैव।। 1049

श्रीकृष्ण ने कहा है कि दुष्कर्म करने वालों के विनाश तथा धर्म की स्थापना करने के लिए वह पृथ्वी पर बार-बार अवतार लिया करते हैं।[1] यादवाभ्युदय में भी देवों को आश्वासन देते हुए भगवान् विष्णु कहते हैं कि देवो, मेरा अवतार पृथ्वी का भार (दुष्ट राजाओं के वध द्वारा) उतार कर अनादिकाल से चले आ रहे और अनन्तकाल तक चलने वाले धर्म की स्थापना करेगा।[2]

भगवान् के सर्वान्तर्यामी होने के कारण सभी प्राणी उनके शरीर हैं। अतः जो जो भक्त श्रद्धा से जिस किसी भी (राम, शिव, इन्द्रादि) शरीर की पूजा करना चाहते हैं, उन उन भक्तों की तत्तत् शरीरों (देवों) में ही भगवान् अचल श्रद्धा स्थापित कर देते हैं।[3]

इस भगवदुक्त वचन के अनुसार वेदान्तदेशिक कहते हैं कि इस संसार में प्राणी जिस किसी की भी उपासना करे, वह नारायण का ही शरीर है। वह पुरूष हित सम्पादन करने वाले उस शरीर से ही नाथवान है अर्थात् वही उसकी उपास्य देवता है।[4]

---

1 विनाशाय च दुष्कृताम्। धर्म संस्थापनार्थाय।। गीता 4-8

2 अवतार्थ मुत्रो मारमवतारो ममामराः।
अनादिनिधनं धर्ममक्षतं स्थापयिष्यति।। या0 1-94

3 यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्।। गीता 7-21

4 य इह यामुपजीवति तत्तुनं स हि तया हितया भुविनाथवान्। या0 6-3

भगवान् के जन्म और कर्म दिव्य (असामान्य) हैं। इन्हें जो यथार्थ रूप में जानता है, वह शरीर का त्याग करने के अनन्तर फिर जन्म नहीं ग्रहण करता है, अपितु वह मुक्त होकर परमात्मा को प्राप्त कर लेता है।[1]

यह भगवान् कृष्ण का ही वचन है। इसी का तात्पर्य लेकर इन्द्र द्वारा की गयी कृष्ण की स्तुति में वेदान्तदेशिक कहते हैं कि जो आपके जन्म कर्म को यथार्थ रूप में नहीं जानता है, वह जन्म कर्म के बन्धन में बंधा करता है अर्थात् उसे बार-बार संसार में जन्म लेना पड़ता है, किन्तु जो आपके कथामृत रस का पान करते हैं, उन्हें फिर शिशु नहीं बनना पड़ता है अर्थात् वे जन्म कर्म बन्धन से मुक्त हो जाते हैं।[2]

स्थितप्रज्ञ जब परमात्मा का साक्षात्कार कर लेता है तो अन्य विषयों से उसका राग भी समाप्त हो जाता है।[3]

उक्त भगवदुक्ति की अनुकूलता से समुद्र का वर्णन करते हुए वेदान्तदेशिक कहते हैं कि स्वभावतः नारायण का प्रीतिगोचर (शयनस्थान) यह समुद्र श्रेष्ठ गंगादि जलों से भरा जाता हुआ देखे जाने पर अन्य विषयों में उसी प्रकार इच्छा नहीं उत्पन्न करता है, जिस प्रकार कि

---

1 जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तावतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन।। गीता 4-9

2 जन्म कर्मभिरसौ निबध्यते तानि यस्तव न वेत्ति तत्वतः।
त्वत्कथामृत रसं पिबन्ति ये ते भवेयुरपुनस्स्तनन्धयाः।। या० 17-107

3 रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते। गीता 2-59

परमात्मा का साक्षात्कार कर लेने पर अन्य विषयों को देखने की इच्छा नहीं होती है।[1]

यहां आत्मदर्शन को उपमान रूप में प्रस्तुत करके अन्य विषयों से राग-रहित दिखाया गया है।

कृष्ण ने विवाद करने वालों में अपने को वाद कहा है।[2] अर्थात् कृष्ण स्वरूप होने के कारण यह सर्वश्रेष्ठ हैं। वेदान्तदेशिक ने इसे वीतराग कथा अर्थात् तटस्थ भाव से प्रतिपादित सिद्धान्त कहा है।[3] कहने का तात्पर्य यह कि विवेचन करने वालों में बाद सर्वश्रेष्ठ है।

इसी प्रकार स्थल-स्थल पर श्रुति स्मृति पुराणों को स्पष्ट छाया तथा कथा उनके काव्यों में मिलता है।

(iv) नाट्य शास्त्र (संगीतशास्त्र)

आचार्य वेदान्तदेशिक नाट्यशास्त्र से परिचित थे या इसमें पारंगत थे, यह कहने की तो आवयश्कता ही नहीं है, क्योंकि नाट्यशास्त्र के समस्त लक्षणों से उपेत नाटक की उन्होंने स्वयं रचना की है। उनके श्रव्यकाव्य में भी नाट्यशास्त्र के कुछ प्रकरणों का यत्र-तत्र उल्लेख हुआ है, उन्हीं पर यहां विचार किया जायेगा।

1 असौ परप्रेमपदं स्वभावादापूर्यमाणो महता रसेने।
आत्मेव दृष्टस्सहसा प्रजानामदर्शनेच्छामितरेषु दत्ते।। या0 18-93

2 वादः प्रवदतामहम्। गीता 10--32

3 वीतरागकथावादः न्याय परिशुद्धि प्रथम आह्निक प्रत्यक्षाध्याये

नाट्य शास्त्र को वेद कहा जाता है। ब्रह्मा ने सभी शास्त्रों के अर्थ से सम्पन्न, सभी शिल्पों के प्रवर्तक एवं इतिहास युक्त नाट्य नामक पंचमवेद की रचना करने का संकल्प किया और चारों वेदों का स्मरण करते हुए उनके अंगों से उत्पन्न नाट्यवेद की सृष्टि की।[1]

वेदान्तदेशिक यह भली भांति जानते थे कि नाट्य भी एक वेद है। अतः नारद द्वारा कृष्ण की पूजा का समर्थन करने पर कवि ने उन्हें मूर्त नाट्यवेद की संज्ञा दी है।[2]

संगीत (नृत्य, वाद्य, गीत) आदि से भी वेदान्तदेशिक सुपरिचित थे। उन्होंने स्थान-स्थान पर उनके भेदों का भी संकेत किया है। कालियनाग को नाथ लेने के बाद उसके फणसमूह पर एक साथ ही चारी विशेष से नृत्य करते हुए कृष्ण देखे गये।[3] नृत्य के समय में एकसाथ पादाग्र, जंघा, उरू और कटि की चेष्टाओं को चारी कहते हैं।[4] कृष्ण ने उसके सिर को रंगस्थल बना लिया, तरंगे मृदंग का नाद निष्पन्न करने लगा, देवगण प्रशंसा करने लगे तो उन्होंने अव्याहतरूप से आरभटी रूप नृत्य विशेष प्रस्तुत किया।[5] जब संरम्भ का वेगाधिक्य हो जाता है तथा विभिन्न प्रकार का

---

1 सर्वशास्त्रार्थसम्पन्नं सर्वशिल्पप्रवर्तकम्।
नाट्यास्यं पंचमं वेदं सेतिहासं करोम्यहम्।।
एवं संकल्प्य भगवान् सर्ववेदाननुस्मरन्।
नाट्यवेदं ततश्चक्रे चतुर्वेदांगसम्भवम्।। भ0 ना0 1-15, 16

2 स तदा मूर्त इवास नाट्यवेदः।। या0 15-93

3 तद्भोगवृन्दे युगपन्मुकुन्दश्चारी विशेषेण समैक्षि नृत्यम्। या0 4-120

4 विचित्रमंघ्रिजंघोरूकटिकर्मसकृत्कृतम्। यावाभ्युदय, टीका 4-120

5 तदुत्तमांग परिकल्प्य रगं तरंगनिष्पन्नमृदंगनादम्।
प्रशस्यमानस्त्रिदशैरकार्षीदव्याहतामारभटीमनन्तः।। या0 04-121

चारी से समुत्थित विचित्र करणों से युक्त नृत्य प्रस्तुत किया जाता है तो उसे आरभटी कहते हैं।[1]

नृत्य, वाद्य और गीत के समूह को संगीत कहा जाता है।[2] गोवर्धन पर्वत पर नदियों ने अपने तरंगों से लास्यनृत्य प्रस्तुत किया, निर्झर-दुन्दुमी ने बाद्य का काम किया, भ्रमरों ने गीत प्रारम्भ किया, जिससे कृष्ण के स्वागत में गोवर्धन द्वारा उपस्थित किये गये संगीत की प्रतीति हुई।[3]

गोवर्धन की अधित्यकाओं ने घूमते हुए बलराम एवं कृष्ण को देखकर मयूरों ने अतर्कित समुपस्थित मेघ समझकर अपने निनाद से षड्ज स्वर में गीत सम्पादित करते हुए नृत्य करना प्रारम्भ कर दिया।[4] मयूरों का षड्ज स्वर में बोलना प्रसिद्ध है।[5]

(v) कामशास्त्र

वेदान्तदेशिक संगीत शास्त्र के साथ-साथ कामशास्त्र के भी पारंगत विद्वान् थे। उन्होंने नायिकाओं, सात्विकभावों, तथा कामक्रीडाओं का यथास्थान बहुत सुन्दर चित्रण किया है।

काम की पारिपार्श्विक समृद्धि का वर्णन करते हुए कवि ने नारद द्वारा उनका सुन्दर रूप प्रस्तुत किया है। काम के चारों ओर पद्मिनी,

---

1 संरम्भावेगबहुलैर्नानाचारीसमुत्थितैः।
नियुद्धकरणैश्चत्रैरुत्पन्नारभटी ततः।। ना0 शा0 20-14

2 यहां यह ज्ञातव्य है कि आरभटी नृत्य आरभटी वृत्ति से भिन्न है।

3 यादवाभ्युदय 8-37

4 यादवाभ्युदय 8-36

5 षड्जं मयूरोवदति या0टीका 8-36

चित्रिणी, शंखिनी और हस्तिनी स्त्रियां विद्यमान हैं। स्त्रियों के ये भेद कामशास्त्र में वर्णित हैं। जिन स्त्रियों के मुख एवं शरीर से पद्म की गन्ध के समान सुगन्ध निकलती है, उन्हें पद्मिनी, जिनके शरीर से मधु गन्ध के सदृश गन्ध आती है उन्हें चित्रिणी, क्षार सदृश ग्रन्ध वाली स्त्रियों को शंखिनी तथा निम्बगन्धा स्त्रियों को हस्तिनी कहा गया है।[1] उक्त नायिकाओं के अन्य प्रकार से भी विभिन्न ग्रन्थों में लक्षण किये गये हैं।

तुम्बुरू ऋषि मुग्धा, प्रगल्भा नायिकाओं की सेना के साथ विवेकानिमुख काम के गमन की सूचना देते है। नायिकाओं के ये भेद भी कामशास्त्र में अतिप्रसिद्ध हैं अभिनव यौवन वाली एवं लज्जा से काम को जीतने वाली नायिका को मुग्धा कहा गया है। प्रकट यौवन वाली और अल्प लज्जा करने वाली स्त्री को मध्या कहते हैं। सम्पूर्ण यौवन से युक्त और कामाधिक्य से लज्जा को दबा देने वाली नायिका को प्रौढ़ा कहा गया है। ये नायिकायें काम की वृद्धि करने के कारण उसकी सेना के रूप में वर्णित हुई हैं। आगे नारद कहते हैं कि स्वाधीन वैभव एवं सम्पूर्ण शक्ति सम्पन्न स्वयं काम ही यदि युद्ध कर रहा है तो मुग्धा (तरूणी), मध्या, प्रौढ़ा की क्या आवश्यकता है। उसके लिए तो वृद्धा भी विजयशील अस्त्र ही है। यहां पर वृद्धा भी यत्र अस्त्र है कहने से यह ध्वनित होता है कि कामशास्त्र में यद्यपि वृद्धा के साथ गमन का निषेध किया गया है[2]

---

1 पद्मिनी पद्मगन्धा च मधुगन्धा च चित्रिणी।
शंखिनी क्षारगन्धा च निम्बगन्धा च हस्तिनी।। रति रहस्य

2 वृद्धा तु कुरुते ज्वरम् (रति रहस्य)

किन्तु काम के स्वयं योद्धा होने पर वह भी दूसरों को जीतने के लिए पर्याप्त है।

कामशास्त्र में मार्ग में चलने से थकी हुई, नवीन ज्चर वाली, नृत्य के कारण ढीले अंगों वाली, एकमास पूर्व सन्तानोत्पत्ति करने वाली तथा छः मास के गर्भ वाली स्त्री को सूरतकाल में सुख प्रदान करने वाली बताया गया है। इसी प्रकार विरह के बाद मिलने पर क्रुद्ध होने के अनन्तर प्रसन्न होने पर, ऋतुस्नान करने पर प्रथम मिलन के अवसर पर एवं मदिरा पान करने पर स्त्रियों में रागाधिक्य देखा जाता है।[1] तुम्बुरू विवेक एवं काम के युद्ध का वर्णन करते हुए कहते हैं कि उन्मत काम ऋतु स्नाता, नृत्तश्लथतनु, अध्यक्षभवती, मन्दोन्मत, क्रुद्धप्रसन्ना तथा इसी प्रकार की अन्य स्त्रियों के झुण्ड के सहित विवेक से युद्ध करने की इच्छा कर रहा है।

सात्विक भावों का भी यथोचित चित्रण वेदान्तदेशिक के काव्यों में मिलता है। कृष्ण को रूक्मिणी ने जब सर्वप्रथम देखा तो उनकी विचित्र दशा होने लगी। बिना धूप के पसीने से लथपथ, बिना भय से उत्पन्न कम्म धारण किए हुए, अनुष्ण अश्रुओं के संचार से निरूद्ध दृष्टि रूक्मिणी

---

1 अध्यवलान्ततनुर्नव ज्वरवती नृत्तश्लाथांवी तथा
मासैकप्रसवा ददाति सुरते षण्मासगर्भा सुखम्।
विख्याता विरहप्य संगमबिधौ क्रुधप्रसन्ना ऋतु
स्नाता नूतनसंगमे मधुमदे रागास्पदं योषिताम्।। कामशास्त्र

को देखकर कृष्ण आनन्दित हुए।[1] इसमें स्तम्भ स्वेद, रोमांच, स्वरभिन्नता, कम्प, लज्जा, अश्रु और मूर्छा नामक आठ सात्विक मात्र बताये गये हैं।[2]

तारुण्यावस्था में स्त्रियों के मुख तथा शरीर में विशेष रूप से परिवर्तन आ जाते हैं। इनमें तीन अंगज (हेला, हाव, और भाव), दश स्वभावज (लीला, विलास, विच्छिति, विभ्रम, किलिकिंचित मोट्टायित, कुटुमित, विव्योक ललित और विहृत) और सात (शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, धैर्य, प्रागल्भ्य और औदार्य) अयत्नज हैं।[3] उन विकारों में किलिकिंचित का प्रयोग दो बार वेदान्तदेशिक ने किया है किन्तु वह भी स्त्री के स्वभावज विकार के रूप में नहीं, अपितु कंस और कृष्ण के युद्ध के समय[4] तथा बाणासुर और कृष्ण के युद्ध के समय[5] दर्शकों में प्रकट होने वाले भावों को किलिकिंचित कहा है। यह एक विचित्र भाव है। जब हर्ष के साथ स्मित, रूदित, हसित, भय, हर्ष, गर्व, दुःख, श्रम और अभिलाषाओं का अनेक बार मिश्रण होता है तो उसे किलिकिंचत कहते हैं।[6] उक्त दोनों स्थलों पर दर्शकों में हर्ष के साथ इनमें से अनेक भावों का प्रकट होना स्वाभाविक है। अतः किलिकिंचित् का प्रयोग किया गया है।

---

1 यादवाभ्युदय 13-24

2 स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमांचः स्वरभेदोऽथ वेपथुः।
वैवर्ण्यमश्रु प्रलय इत्यष्टो सात्विका मताः।। ना0 शा0 7-94

3 ना0 शा0 22-4, 5

4 यादवाभ्युदय 10-62

5 यादवाभ्युदय 16-64

6 स्मितरुदितहसितमयहर्षगर्वदुःखसश्रमाभिलाषाणाम्।
संकरकरणं हर्षादिसकृत् किलिकिंचिंत ज्ञेयम्।। ना0 शा0 22-18

प्रायः सभी कवियों ने स्त्रियों के कटाक्षों का यथावसर वर्णन किया है स्त्रियों के कटाक्ष विक्षेप का ही एक विशेषरूप आकेकर कहा गया है। जब पलकों के कोनों को कुछ संकुचित करके अभीष्ट वस्तु को देखते हुए बारम्बार पुतलियों का सञ्चालन किया जाता है तो उस दृष्टि को आकेकरा कहते हैं।[1] इसका प्रयोग भी वेदान्तदेशिक ने दो बार किया है। रुक्मिणी को देखने पर कृष्ण एकक्षण में ही उसके अनेक आकेकरों के लक्ष्य बने।[2] तथा कृष्ण का देखना (निरीक्षण) आकेकर रूपप्रियतमाजन की दृष्टि से अनुभव करने योग्य है अर्थात् प्रियतमायें अपने आकेकर रूप दृष्टि से कृष्ण के निरीक्षणों का आनन्द लेती हैं।

इसके अतिरिक्त यादवाभ्युदय के चौबीसवें सर्ग की सृष्टि करके वेदान्तदेशिक ने कामशास्त्रानुसार, उपवनविहार, वनविहार, रत्नडोलाविहार, जलक्रीडा, प्रसूनमण्डप विहार, क्रीडाशुक शिक्षण, कन्दुक क्रीडा, नयनपिधान (आंखमिचौनी) आदि अनेक मनोहारी वर्णनों को प्रस्तुत करके अपने सहृदय शिरोमणि एवं कामशास्त्र पारदृश्या होने का संकेत किया है।

(vi) मनोविज्ञान

चित्तवृत्तियों का अध्ययन करने के कारण मनोविज्ञान को भी कामशास्त्र के अन्तर्गत रखा जा सकता है। मनोविज्ञानवेता होने के कारण वेदान्तदेशिक ने स्थान स्थान पर इसका सफलता के साथ उपयोग किया है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी प्रशंसा सुनकर प्रसन्न होता है। स्त्रियों में

---

1 आकुंचितपुटापांगसंगतार्थमिमोषिणी।
मुहुर्व्याभूत तारा च दृष्टिराकेकरा स्मृता।। भाव प्रकाश

2 यादवाभ्युदय 13-9

विशेषरूप से अपनी प्रशंसा सुनने की अभिलाषा तथा उससे परितोष देखा जाता है। कृष्ण सत्यभामा से गंगा का वर्णन करते हुए उनकी चाटुकारिता करने लगते हैं। जिस प्रकार अनेक प्रसिद्ध गोत्रोत्पन्न पत्नियों के होने पर संसार मुझे तुम्हीं से पत्नीवान् जानता है उसी प्रकार प्रसिद्ध पर्वतों से निकली हुई नदियों के पत्नीरूप में होने पर भी गंगा से ही समुद्र को सरित्पति समझा जाता है।[1] यहां पर कृष्ण ने अपने को सत्यभामा से ही बलवान् कहा है। यह सत्यभामा को प्रसन्न रखने के लिए उनकी प्रशंसामात्र का सूचक है क्योंकि रुक्मिणी के लक्ष्मी का अवतार होने के कारण तथा समस्त पत्नियों में श्रेष्ठ होने के कारण पत्नी रूप में उन्हीं की सर्वाधिक प्रसिद्धि है।

स्त्रियों का गतानुगतिकत्व प्रसिद्ध है। जिस मार्ग का अनुसरण कुछ लोग करते हैं उसी पर अन्य स्त्रियां भी चलने लगती हैं। इसी आशय से, वेदान्तदेशिक प्रातः काल का वर्णन करते हुए कहते हैं कि पूर्वदिशा को अनुरू के सम्पर्क से रागवती देखकर दूसरी (पश्चिम) दिशा भी बदलने लगी। स्त्रियों के गतानुगतिकता में विश्वास करने के कारण ही उनका कामितकामिनित्व प्रसिद्ध है। कामितकामिनित्व का तात्पर्य है कि जिसे एक (कुछ) स्त्री चाहने लगती हैं तो उसे अन्य स्त्रियां भी उसी रूप में प्राप्त करने की इच्छा करने लगती हैं। इसी का समर्थन महाभारतोक्त स्त्रियः कामितकामिन्यः इत्यादि वचनों से भी होता है।

---

1 यादवाभ्युदय 18-41

स्त्रियों का चित्त चंचल होता है। अतः पत्नियों की रक्षा उपाय से ही की जा सकती है, बलपूर्वक नहीं। मनुस्मृति भी इसका समर्थन करती है कि कोई पुरूष बलात् स्त्रियों की (शीलादि की) रक्षा करने में समर्थ नहीं हो सकता है, उपायों के द्वारा ही उनकी रक्षा सम्भव है।[1] इसीलिए कृष्ण ने अपनी पत्नियों के रक्षार्थ कामतन्त्र से प्रतिपादित उपायों, का ही आश्रयण लिया अर्थात् अपनी पत्नियों के साथ सांग रमण के लिए प्रवृत्त हुए।[2] स्त्रियों की चंचल चित्तवृत्तियों को केन्द्रित करने के लिए उनकी रूचि के अनुसार कार्य करना आवश्यक है।

वेदान्तदेशिक कहते हैं कि आगमवेत्ताओं (मनोवैज्ञानिकों) ने स्त्रियों को स्वभावतः चपल (बिना विचार किए कार्य करने वाली), प्रतिकूल (विरुद्ध आचरण करने वाली) तीक्ष्ण (क्रोध करने वाली) तथा रूक्ष (नीरस) कहा है किन्तु कृष्ण की पत्नियों ने इस अपवाद को पृथ्वी से दूर कर दिया अर्थात् वे गम्भीर, अनुकूल दयालु तथा मृदु स्वभाव की थीं।[3] कहने का तात्पर्य यह कि उक्त दोष स्त्रियों में प्रायः देखे जाते हैं, अतः ये प्रकृतिज धर्म बन गये हैं किन्तु उचित वातावरण तथा शिक्षादि के द्वारा इनमें परिवर्तन भी किया जा सकता है।

(vii) राजनीति शास्त्र

राजनीति शास्त्र बहुत व्यापक शब्द है। इसका क्षेत्र विशाल है। इसी के अन्तर्गत अर्थशास्त्र, सैन्यज्ञान, युद्धविद्या आदि भी निहित है। राजनीति

1 मनुस्मृति 9-10

2 यादवाभ्युदय 24-3

3 यादवाभ्युदय 24-76

का ज्ञान राजाओं के लिए अपेक्षित ही नहीं, अपितु अनिवार्य माना जाता है। समाज का चित्रण करते हुए उचित मार्ग का काव्यमुखेन निर्देश करने वाला कवि इससे कैसे अपरिचित रह सकता है। इसीलिए वेदान्तदेशिक के काव्यों में राजनीति के सिद्धांतों एवं रहस्यों को यथोचित स्थान प्राप्त हुआ है।

राजा के लिए सभी कार्यों में अंग पंचक से सम्पन्न होना आवश्यक बताया गया है। कार्यारम्भ का उपाय, (साधनोपाय), पुरुषद्रव्यसम्मत् (सहाय), देशकालविभाग, विनिपात प्रकार और कार्यसिद्धि को अंगपंचक कहते हैं।[1] महाराज उग्रसेन के शासन का वर्णन करते हुए वेदान्तदेशिक कहते हैं कि उनके मान का संरक्षक पंचांगसम्पति से युक्त विचार साध्यसाधक तर्क के समान विपक्षियों को दण्ड देने वाला बना।[2] कहने का आशय यह है कि जिस प्रकार प्राप्ति, तर्कप्रतिहति आदि पंचांगों से सम्पन्न तर्क अनुमानादि में साध्य का साधक तथा प्रतिवादियों के तर्को का बाधक होता है, उसी प्रकार उपाय, सहाय आदि अंगपंचक सम्पन्न उग्रसेन के विचार अभीष्ट कार्यो के साधक तथा शत्रुओं को दण्डित करने में समर्थ थे।

यहां पर तर्क के पंचांगों की चर्चा करके वेदान्तदेशिक ने जहां अपनी न्यायप्रियता का परिचय दिया है, वहीं पंचांगमन्त्र का उल्लेख करके राजनीति के सिद्धांतों के विषय में भी अपनी अभिज्ञता प्रकट की है।

---

1 सहाया: साधनोपाया: विभागो देशकालयो:।
विपत्तेश्च प्रतीकार: सिद्धि: पंचांगमिष्यते।। कामन्दक नी0 11-56

2 यादवाभ्युदय 10-113

उसी प्रसंग में कवि ने सप्तोपायों का भी उल्लेख किया है। साम, भेद, दान, दण्ड, माया, उपेक्षा और इन्द्रजाल को शत्रुओं को पराजित करने तथा उनसे मन हरण करने में उपाय बताया गया है।[1] उग्रसेन ने यथोचित स्थान पर सामदानादि सप्त उपायों का प्रयोग करके अष्टादश द्वीपों में उत्पन्न उत्तम वस्तुओं का हरण कर लिया। यहां पर सामदानादि सप्तउपायों का यथोचित स्थान पर प्रयोग बताकर राजनीति के पारिभाषिक पदों और सिद्धान्तों की चर्चा कवि द्वारा की गयी है।

शत्रु तीन प्रकार के होते हैं-प्राकृत, सहज और कृत्रिम। अपकाररूप कार्यविशेष से उत्पन्न होने के कारण कृत्रिम शत्रु सबसे प्रमुख माना जाता है। पितृव्य तथा उनके पुत्रादि सहज शत्रु कहे जाते हैं। इनके अतिरिक्त स्वभावतः शत्रुता रखने वाले प्राकृत शत्रु कहे जाते हैं। प्राकृत और सहज शत्रु तो कार्यवशात् मित्र भी बन जाते हैं, किन्तु कृत्रिम शत्रु तो यावज्जीवन शत्रु ही बना रहता है अतः उसकी प्रमुखता बतायी गयी है।[2] नारद जी कृष्ण से शिशुपाल का वर्णन करते हुए कहते हैं कि हिरण्यकशिपु, रावण और शिशुपाल रूप तीन जन्मों में तुमसे युद्ध करने में चतुर वह ब्रह्मा के द्वारा सिंह गजक्रम से स्वाभावतः (प्राकृत) विरोधी के रूप में उत्पन्न किया गया है। इस प्रकार वह सहज शत्रु इस समय रूक्मिणी रूप निर्मित से कृत्रिम शत्रु भी बन गया है।[3]

---

1 साममेदश्च दानं च दण्डश्चेति चतुष्टयम्। मायोपेक्षन्द्रिजालं च सप्तोपायाः प्रकाशिका। (का० नां० 17-3)

2 मल्लिनाथ टीका शिशुपाल वध 2-36

3 यादवाभ्युदय 15-16

यहां पर शिशुपाल को कृष्ण का प्राकृत, सहज और कृत्रिम शत्रु कहा गया है। यद्यपि पितृस्वस्रेय (फुफेरा भाई) सहज मित्र हुआ करते हैं किन्तु स्वार्थवशात् यदि उनसे शत्रुता हो जाती है तो वे ही सहज शत्रु भी बन जाते हैं। शिशुपाल भी ऐसा ही है और रूक्मिणी प्राप्ति रूप कार्य से कृत्रिम शत्रु भी हो गया है। इस प्रकार राजनीति शास्त्र में प्रसिद्ध शत्रु-भेदों के वर्णन से राजनीतिशास्त्र विषयक वेदान्तदेशिक का ज्ञान प्रकट होता है।

नीतिमान पुरुष में 6 गुण होने चाहिए। इनका प्रयोग यथा समय किया जाना चाहिए। इन गुणों के नाम हैं- सन्धि, विग्रह, आसन, यान, संश्रय (समाश्रय) और द्वैधी भाव।[1] इनका प्रयोग करने से स्वकार्य सिद्धि में सहायता मिलती है। दुर्नयस्थ व्यक्ति में ये गुण नहीं मिलते हैं। वेदान्तदेशिक ने कृष्ण के वाणों से आहत नरकासुर के सैनिकों की दशा का उल्लेख करते हुए उपमान रूप में प्रस्तुत करके इसी का वर्णन किया है। विश्लिष्ट सन्धियों और शरीर वाले, वाहनों के आसनों के समाश्रय से रहित द्विविध भाव का त्याग कर देने वाले (विजय की आशा छोड़कर मृत्यु को ही देखने वाले) योद्धा सन्धिविग्रह यानासनासमाश्रय और द्वैधी भाव से रहित दुर्नयस्थ व्यक्तियों के समान हो गये।[2]

---

1 कौ0 अर्थ0 7/1/11

2 यादवाभ्युदय 16-97

यहां पर नयस्थ पुरुषों में रहने वाले वाङ्गुण्य के अभाव से युक्त पुरूषों से योद्धाओं की उपमा देकर वेदान्तदेशिक ने अपने राजनीति विषयकज्ञान को प्रदर्शित किया है।

राजनीतिशास्त्र में नीतिज्ञ राजाओं की प्रभु, उत्साह और मन्त्र संज्ञक तीन शक्तियां प्रसिद्ध हैं।[1] इसी प्रकार भगवान् कृष्ण में भी श्री, मुनि और माला रूप तीन शक्तियां निहित है जिनसे वे अक्षुण्ण जगत् के अधिराज कहे जाते हैं।[2] यहां पर कवि ने नीतिशास्त्र प्रसिद्ध शक्तियों का उल्लेख किया है।

इसके अतिरिक्त यादवाभ्युदय के वाइसवें सर्ग में लगभग तीस श्लोकों में कृष्ण द्वारा राजनीति के सिद्धान्तों तथा रहस्यों का वर्णन किया गया है। उनके मत से पृथ्वी की रक्षा और उपेक्षा के अतिरिक्त कोई दूसरा धर्म तथा अधर्म नहीं है।[3] अर्थात् पृथ्वी की रक्षा ही धर्म है और उसकी उपेक्षा करना अधर्म है।

वाह्यशत्रुओं को जीतने से पूर्व क्रोध लोभादि 6 आन्तरिक शत्रुओं को जीतना चाहिए, क्योंकि वे अस्थान पर प्रकट होकर समस्त अर्थो में हानि पहुंचा सकते हैं।[4] प्रज्ञाबल से ही द्विविधक्षमा (पृथ्वी और क्षान्ति) को धारण करना चाहिए।[5] क्योंकि क्षमा अत्यन्त शीघ्र फलदायिनी होती है।

---

1 शक्तयस्तिस्रः प्रभावोत्साहमन्त्रजाः-अमरकोष

2 यादवाभ्युदय 16-113

3 यादवाभ्युदय 22-10

4 यादवाभ्युदय 22-30

5 यादवाभ्युदय 22-31

इसकी तीक्ष्णता के समक्ष शाप, अभिचार, अग्नि, विष, अस्त्र, शस्त्र आदि किसी का महत्व नहीं है।[1] वेदान्तदेशिक के मत से कभी-कभी संकट के समय युद्ध में वीरों का पीछे खिसक जाना उचित है।[2] उनके मत से किसी कार्य को करने से यदि अनेक लाभ हैं या अधिक गुण प्राप्त होता है तो बीच में किसी दोष के आ जाने पर भी उसे करना चाहिए। ''एकोहि दोषो गुण-सन्निपाते निमज्जतीन्दो: किरणेष्विवाक:'' इत्यादि द्वारा अन्य कवियों ने भी इस मत का उल्लेख किया है। इसी प्रकार राजा को उपदेश देने के लिए लिखी गयी सुभाषित नीवी में भी नीतियों का यथास्थान विवेचन हुआ है।

(viii) ज्योतिषशास्त्र

ज्योतिष के गणित एवं फलित दो अंग हैं। ग्रह नक्षत्रों की गति तथा उनके प्रभावादि का अध्ययन इसके अन्तर्गत आता है। आधुनिक प्रचलित रूप में सामुद्रिक शास्त्र, शकुन आदि का विचार भी ज्योतिष की सीमा से परे नहीं है। वेदान्तदेशिक के काव्यों का अध्ययन करने से यह ज्ञात होता हे कि उन्हें ज्योतिष शास्त्र का सम्यग्बोध था। कृष्ण का जब जन्म हुआ तो पांच ग्रह अपने उच्चस्थानों पर स्थित थे।[3] यहां पर संक्षेप में ही उन्होंने ज्योतिष शास्त्र का पाण्डित्यपूर्ण परिचय उपस्थित किया है। मेष, वृष, मकर, कन्या, कर्क, मीन और तुला राशि क्रम से सूर्य, चन्द्र,

---

1 यादवाभ्युदय 22-32

2 क्वचिदतिसंकटविषये सुभटानां सन्मतोयमपसर्प:-सं0 सू0 8-75

3 यादवाभ्युदय 2-96

भौम, बुध, गुरू, शुक्र तथा शनि के उच्च स्थान हैं।[1] वेदान्तदेशिक कहते हैं कि कृष्ण के जन्मकाल (भाद्रपद कृष्णाष्टमी) में पांच ग्रह अपने उच्च स्थान पर स्थित थे। विचारणीय विषय यह है कि पांच ग्रहों की ही उच्च स्थान पर स्थिति उन्होंने क्यों बतायी? क्या उससे अधिक ग्रह एक साथ उस समय में अपने उच्चस्थानों पर नहीं जा सकते? इसके लिए ग्रहों का राशियों पर भोगकाल जानना आवश्यक है। ज्योतिष के अनुसार शुक्र, बुध और सूर्य एक एक महीना, मंगल डेढ़ महीना, वृहस्पति एक वर्ष, राहु डेढ़ वर्ष और शनि ढाई वर्ष तक एक राशि पर रहता है। चन्द्रमा सवा दो दिन एक राशि पर रहता है। ऐसा विद्वानों द्वारा कथित है। ग्रहों के भोगकाल को ध्यान में रखकर यदि विचार करें तो सूर्य का भोगकाल एकमास है और वह मेष राशि पर स्थित होने पर उच्च स्थान पर जाता है। इसी प्रकार शुक्र का एक राशि पर भोगकाल एकमास है और मीन राशि पर वह स्थित होकर उच्च स्थान को प्राप्त करता है। मेष और मीन राशियां भाद्रपद से बहुत दूर अर्यगत फाल्गुन चैत्र के लगभग पड़ती हैं। अतः कृष्ण जन्मकाल सूर्य और शुक्र का अपने उच्च स्थान पर रहना कथमपि सम्भव नहीं है। शेष पांच ग्रह उस काल में अपने उच्च स्थानों पर रह सकते हैं। इस ज्योतिषशास्त्र विषयक विस्तृत ज्ञान को उन्होंने 'सिद्धपञ्चकग्रहोच्चे' के द्वारा अत्यन्त संक्षेप में अपने महाकाव्य में उपस्थित किया है।

---

1 अजवृषभमृगांगनाकुलीराः झषवणिजो च दिवाकरादितुंगाः । वृहज्जातक 1-13

इस प्रकार हम देखते हैं कि अनेक शास्त्रों के अध्ययन से उद्भुत व्युत्पत्ति का दर्शन वेदान्तदेशिक के काव्यों में स्थान-स्थान पर होता है। उपर्युक्त शास्त्रों के अतिरिक्त आयुर्वेद, इन्द्रजाल, सामुद्रिक शास्त्र, वास्तुशास्त्र, कृषिशास्त्र, युद्धविद्या आदि में उनके पारंगत होने का बोध भी अनेक श्लोकों में उद्धृत विषय से होता है।

उपसंहार

उपसंहार

श्रीमद्रामानुजाचार्य के सिद्धान्त का प्रवर्तन करने में तत्पर कवितार्किक सिंह सर्वतन्त्रस्वतन्त्र वेदान्ताचार्य द्वारा संस्कृत एवं तमिल में विरचित्र शताधिक शास्त्र काव्यात्मक ग्रन्थों में यादवाभ्युदय, सुभाषितानि, हंससन्देश, संकल्प सूर्योदय और पादुका सहस्र नामक पांच प्रसिद्ध काव्य ग्रन्थ हैं। यद्यपि पादुकासहस्र अन्य स्तोत्रों के ही समान एक स्तोत्रात्मक ग्रन्थ है किन्तु स्तोत्र ग्रन्थ भी अन्ततः काव्य की ही अन्यतम विधा के अन्तर्गत आते हैं। साथ ही पादुका सहस्र की रचना कवि ने काव्य बुद्धि से ही की है तभी तो चित्र पद्धति की रचना करके कवि ने यादवाभ्युदय के ही समान अनेक चित्रालंकारों को प्रस्तुत किया है। पादुकासहस्र यदि केवल स्तोत्र रूप में ही कवि को अभिष्ट होता है तो उसमें चित्र पद्धति का स्थान न होता। यादवाभ्युदय की रचना के अवसर पर आचार्य अपनी जिस काव्य-प्रतिमा का प्रदर्शन नहीं कर सके थे उसका अवसर उन्हें पादुका सहस्रम में प्राप्त हुआ।

मूल्यांकन के लिए अपेक्षित अधीत समस्त ग्रन्थों की सुश्लिष्ट विवृति और काव्यगुणों की गम्भीर आलोचना के पूर्व यह आवश्यक प्रतीत होता है कि उनका कालक्रम निर्धारण भी कर लिया जाय। यद्यपि वेदान्तदेशिक की काव्यकृतियों को वास्तविक रचना-क्रम में रखना कठिन है फिर भी इन्हीं ग्रन्थों के अन्तः साक्ष्य के आधार पर यथार्थ निष्कर्ष पर पहुंचा जा सकता है। यद्यपि अन्य विद्वानों ने भी वेदान्तदेशिक की कृतियों का काल-निर्धारण

(ऐतिहासिक परिचय) प्रस्तुत किया है। किन्तु उसे यथातथ्य रूप में स्वीकार कर लेना समीचीन प्रतीत नहीं होता है, क्योंकि इन रचनाओं के अन्त: साक्ष्य से उनका विरोध स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है।

संकल्पसूर्योदय ही कवि की ऐसी कृति है जिसके आधार पर उनका काल निर्धारण करना संभव है। यह नाटक आचार्य की प्रौढ़ावस्था की कृति है। इसकी रचना के पूर्व वे वेदान्ताचार्य, कवि तार्किक सिंह आदि विरुद प्राप्त कर चुके थे। उनके शिष्यगण समस्त दिशाओं में इनकी विजयवैजयन्ती फहरा चुके थे।[1] साथ ही समस्त शास्त्रों का अध्ययन परिसमाप्त करके ये तीसबार श्री भाष्य का कालक्षेप (अध्ययन) कर चुके थे।[2] यह आवश्यक नहीं है कि श्री भाष्य की एक आवृत्ति में एक वर्ष का समय लगा हो। जैसा कि प्रभावलीकार ने निर्देश किया है[3]। यदि श्रुत प्रकाशिका सहित श्री भाष्य का अध्यापन कियें होंगे तो अधिक समय अपेक्षित है, अन्यथा एक वर्ष से कम समय में भी एक आवृत्ति समाप्त हो सकती है। यह तो इस पर निर्भर करता है कि प्रतिदिन कितने समय तक कालक्षेप चलता था। फिर भी यदि सामान्यत: एक आवृत्ति के लिए हम एक वर्ष का ही समय मान लें तो इस नाटक की रचना उन्होनें अपनी पचास वर्ष की अवस्था अर्थात सन् 1318 ई0 के बाद ही किया है। इसके अतिरिक्त यदि यह स्वीकार किया जाय कि उन्होंनें श्री भाष्य का कालक्षेप अपने मामा आत्रेय रामानुजाचार्य के परमपदप्राप्ति के अनन्तर श्री भाष्य पीठ पर अभिषिक्त

---

1. संकल्पसूर्योदय 1-12 से पूर्व।
2. संकल्पसूर्योदय 1-15
3. संकल्पसूर्योदय 1-15 प्रभावली

होने पर सन् 1295 ई0 के पश्चात् प्रारम्भ किया तो इस नाटक की रचना 1325 ई0 के बाद प्रारम्भ की गयी।

जैसा कि सुभाषितनीवी की रचना के विषय में प्रसिद्धि है कि इसे वेदान्तदेशिक ने राजमुन्दरी के महाराज सर्वज्ञ शिंगप्नायक को सामान्य नीतियों के शिक्षणार्थ लिखा था तो इसका रचनाकाल सन् 1329-30 ई0 होना चाहिए। सुभाषित नीवी के चौदह श्लोक संकल्प सूर्योदय नाटक में कवि द्वारा यथा स्थान उद्धृत किए गये हैं, इससे यह सिद्ध होता है कि कवि ने अपने नाटक की रचना सन् 1330 ई0 के बाद ही की है।

नाटक का अध्ययन करने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि कवि ने इसकी रचना उत्तर भारत की यात्रा करने के पश्चात् ही पूर्ण की है अतः नाटक की रचना सन् 1330 से 1335 के मध्य मानना अधिक समीचीन है।

वेदान्तदेशिक ने यादवाभ्युदय की रचना 'कवितार्किकसिंह' विरुद् प्राप्ति के अनन्तर की है, जैसा कि कविकथकमृगेन्द्रः क्षेमदं काव्य रत्नम् इत्यादि अन्तिम श्लोक से ही सिद्ध होता है। इसमें कवि तार्किक सिंह विरुद् मात्र दिया गया है। स्तोत्ररत्नभाष्य में उन्होंने समस्यासाहस्री कविकथकमृगेन्द्रः सर्वतन्त्रस्वतन्त्रः विरुदविभूषित रूप में निर्देश किया है। संकल्पसूर्योदय एवं पादुकासहस्रम् में वेदान्ताचार्य सहित अन्य विरुदों का प्रयोग हुआ है। इससे भी यही प्रमाणित होती है कि यादवाभ्युदय, संकल्पसूर्योदय, पादुकासहस्रम् की रचना क्रमशः की गयी है। सुभाषित नीवी और हंस सन्देश का रचनाकाल तो क्रमशः संकल्प सूर्योदय से पहले और बाद में निर्विवाद सिद्ध ही है।

यादवाभ्युदय के प्रतिसर्ग के अवसान में कवितार्किक सिंहस्य सर्वतन्त्रस्वतन्त्रस्य श्रीमद्वेदान्ताचार्यस्य इत्यादि का उल्लेख कवि ने स्वयं नहीं किया था अपितु प्रसिद्ध व्याख्याकार श्री अप्पयदीक्षित ने लिखा है। उसी के आधार पर अन्य पाश्चात्य विद्वानों ने यह कहना प्रारम्भ कर दिया कि सम्पूर्ण विरुदों की प्राप्ति के अनन्तर वेदान्तदेशिक ने सभी ग्रन्थों की रचना की है। उनका यह कथन सर्वथा असंगत है। तद्ग्रन्थों में निर्दिष्ट विरुद की पूर्णता ही अंगीकार करना उचित है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि हयग्रीव स्तोत्र, गरुड पंचाशत, गोपाल विंशति, वरद राजपंचाशत्, अष्टभुजाष्टक, दयाशतक, दशावतार, स्तोत्र, यतिराज, सप्तति, न्यास तिलक, गरुड आदि स्रोतों सहित यादवाभ्युदय महाकाव्य एवं सुभाषितनीवी खण्डकाव्य की रचना संकल्पसूर्योदय के पूर्व की जा चुकी थी, क्योंकि इनके अनेक श्लोक संकल्प सूर्योदय नाटक में यथास्थान निविष्ट किए गए हैं। इसी आधार पर वेदान्तदेशिक की अन्य काव्यकृतियों-पादुका सहस्रम् एवं हंस सन्देश-को नाटक से परवर्ती रचना कह सकते हैं। यद्यपि यह आवश्यक नहीं था कि वेदान्तदेशिक अपनी समस्त पूर्व कृतियों के श्लोकों को अपने नाटक में उद्धृत करते, किन्तु जैसा कि उनकी शैली रही है, जब उन्होंने अन्य साधारण स्तोत्रों के अनेक श्लोक उद्धृत किए है तो पादुका सहस्रम् जैसी प्रमुख कृति के महत्वपूर्ण श्लोकों को यथास्थान अवश्य उद्धृत करते। इसके अतिरिक्त पादुका सहस्रम् के चित्रकाव्य यादवाभ्युदय की अपेक्षा अधिक गूढ़ एवं गम्भीर हैं। उनका वैचित्र्य भी पूर्व कृति की अपेक्षा उत्कृष्ट एवं अधिक हैं, पादुका सहस्रम्

का रचनाकाल यादवाभ्युदय एवं संकल्पसूर्योदय के बाद ही होना चाहिए। हंस सन्देश तो निस्सन्देह ही कवि की परिपक्वावस्था की उत्कृष्ट कृति है जो कि ग्रन्थ के आमूल चूल अध्ययन से सर्वत्र परिलक्षित होती है। इसके अतिरिक्त अन्यान्य स्तोत्रों की रचना वेदान्तदेशिक समय-समय पर करते रहे हैं। अमीतिस्तव से पता चलता है कि मलिक काफूर द्वारा श्रीरंगम् के आक्रान्त हो जाने के बहुत बाद की यह रचना है।[1] उस समय आचार्य वृद्ध हो चुके थे,[2] वे रंगनाथ भगवान् से प्रार्थना करते हैं कि वह सम्पूर्ण जगत् में व्याप्त यवनों और तुरुष्कों के भय का शमन करें।[3]

कवि या उसकी कृतियों के मूल्यांकन का तात्पर्य है साहित्य जगत् में प्रख्यात कवियों के मध्य उसकी अवस्थिति का निर्धारण करना। इसके लिए दो मार्गो का आश्रयण किया जा सकता है एक तो कवि की समस्त कृतियों पर विचार करते हुए उसके वैशिष्ट्य का ख्यापन करना और दूसरे अन्यप्रसिद्ध कवियों के साथ तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत कर कवि का स्थान निर्धारित करना। यद्यपि वेदान्तदेशिक के विषय में द्वितीय मार्ग का आश्रयण करना व्यर्थ-सा प्रतीत होता है, क्योंकि साहित्य जगत् में उनके सदृश कोई दूसरा कवि ही नहीं है जिसके साथ उनकी तुलना की जा सके। वाल्मीकि, कालिदास, माघ प्रभृति महाकवियों में असाधारण काव्य प्रतिभा का दर्शन तो होता है, किन्तु वेदान्तदेशिक जैसी दार्शनिकता और भक्ति का सर्वथा अभाव है। श्री हर्ष चमत्कारिणी काव्य-प्रतिभा और दार्शनिकता का संपुटित

1. अमीतिस्तव 20-21
2. अमीतिस्तव 28
3. अमीतिस्तव 22

रूप लेकर संस्कृत जगत् में अवतरित होते हैं, किन्तु वेदान्तदेशिक जैसी भक्ति की निर्मल स्रोतस्विनी का वहां भी सर्वथा अभाव है। आलवार सन्तों में भक्ति का प्राचुर्य है तो कवित्व और दार्शनिकता के अभाव के साथ उनकी कृतियां संस्कृत में नहीं हैं। इस प्रकार वेदान्तदेशिक जैसे असाधारण कवि के समान किसी अन्य कवि के दृष्टिगत न होने से उनकी अद्वितीयता संस्कृत साहित्य जगत् में अक्षुण्ण बनी रहती है, फिर भी कवि की कृतियों में जिन स्थलों पर अन्य कवियों से साम्य झलकता है अथवा दूसरे कवियों का प्रभाव प्रतीत होता है उन स्थलों का तुलनात्मक विवेचन आवश्यक है।

अतः दोनों पद्धतियों का आश्रयण कर उनका मूल्यांकन करना ही अधिक उपयुक्त है। सर्वप्रथम कवि की कृतियों का ही विश्लेषण प्रस्तुत किया जाता है।

यह हम देख चुके हैं कि यादवाभ्युदय सर्वलक्षणसमन्वित एक उत्कृष्ट महाकाव्य है।[1] कवि को आत्मविश्वास है कि उचित मार्ग का आश्रयण करके काव्य रचना में प्रवृत्त उसके वचनों का, कादाचित्क अनवधानता आ जाने पर भी सहृदय जन तिरस्कार नहीं करेंगे। इसके लिए वे मार्गनृत्त में प्रवृत्त नर्तकी को उपमान रूप में प्रस्तुत करते हैं।[2]

प्रवृत्तामनघे मार्गे प्रमाद्यन्तीमपि क्वचित्।

न वाचमवमन्यन्ते नर्तकीमिव भावुकाः।।

---

1. प्रस्तुत शोध प्रबन्ध का प्रथम अध्याय
2. यादवाभ्युदय 1-7

फिर कवि की वाणी भी निरवद्यपथ में क्यों न प्रवृत्त हो, जिस महाकाव्य के नायक श्रीकृष्ण के सौन्दर्य के लवमात्र का अनुकरण करोड़ों कामदेव का सम्मिलित सौन्दर्य भी नहीं कर सकता है, जिसका साक्षात्कार करके योगीजन भी स्त्रीभाव की कामना करने लगते हैं-[1]

एकीभवद्भिरयुतैरपि मन्मथानां

यत्कान्तिबिन्दुपृषताऽनुकृतिर्न शक्या।

सम्प्रेक्ष्य तं यदुपतिं यमिनोऽपि नूनं

स्त्रीभावमेव मनसा विभराम्बभूवुः।।

ऐसे अप्रतिम सौन्दर्य-माधुर्य मूर्ति की लीला वर्णन के अवसर पर कठोरता और दोष का अवसर ही कहां है। वस्तुतः कृष्ण की इस अप्रतिम शोभा-चित्रण में अन्तरंग रूप में आलवार सन्तों की भांति कवि की अपनी अनुभूति भरी पड़ी है।

भगवान् की निवास-भूमि वृन्दावनस्थली के दर्शन की असाधारण लालसा है-

अपि नाम निशामयिष्यते निगमान्तैरिव निर्मिता स्थली।

रमयिष्यति यत्र में दृशो रसभूमा रमणीयमातृका।।[2]

भवबन्थोच्छेदक भगवत्पहारविन्दमकरन्द से परिपूरित वृन्दावन भूमि को प्रणाम करके अपने को पवित्र बनाने की कामना, लक्ष्मी और पृथ्वी से सेवित नरकमय निवारक परमानन्दरूप भगवत्पाद पद्मों के दर्शन से नयनों

1. यादवाभ्युदय 24-82
2. यादवाभ्युदय 9-32

को तृप्त करने की अभिलाषा इत्यादि अपरिमित उदात्त भावों से यादवाभ्युदय का नवम सर्ग भरा पड़ा है।

भगवान् के विरह में गोपांगनाओं जैसी तड़पन और भगवत्कृपा दृष्टिपात् की आशा से कवि का हृदय परिपूरित है-

करूणामरितैः कदापुनः स्वयमुल्लाघयिता स एव नः।

अपरस्पर पातिभिः शनैरगदंकारनिभैरवेक्षणेः।।[1]

इसी प्रकार वन्दे वृन्दावनचरं वल्लवीजनवल्लभम् इत्यादि प्रथम श्लोक द्वारा भगवान् के सोशील्य, सोलभादि गुणों की अभिव्यंजना से कवि की जिस अनन्य भक्ति का परिचय सहृदय पाठक को प्राप्त होता है उसी का परिपोष आयन्त समस्त महाकाव्य में होता है और व्यतनुत यदुवीर प्रीतिमिच्छन् के द्वारा प्रयोजनोल्लेख करते हुए ग्रन्थ की समाप्ति करके उसी का पर्यवसान भी किया गया है।

वेदान्तदेशिक के काव्य आमूलचूड सहृदय हृदयसंवेद्य भावों से पूर्ण हैं-

इसके विषय में सहृदय शिरोमणि अप्पयम् दीक्षित प्रमाण हैं। वे कहते हैं-

इत्थं विचिन्त्याः सर्वत्र भावाः सन्ति पदे पदे।

कवितार्किक सिंहस्य काव्येषु ललितेष्वपि।।[2]

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि वेदान्तदेशिक सहृदयश्लाघ्य काव्यरचना में निपुण एक प्रतिभा सम्पन्न कवि थे, जिन्हें जिह्वाग्र स्थित त्रिचतुष्क प्रधान कवियों के मध्य में रखा जा सकता है।

---

1. यादवाभ्युदय 1-9 व्याख्या अप्पय्यदीक्षित
2. यादवाभ्युदय 1-9 व्याख्या अप्पय्यदीक्षित

यह प्रश्न किया जा सकता है कि यदि वे वस्तुत: उच्चकोटि के कवियों में अन्यतम् हैं तो उन्हें समाज में उतनी प्रसिद्धि क्यों नहीं प्राप्त हो सकी है जितनी कि अन्य उच्चकवियों को मिली है। इस विषय में वेदान्तदेशिक की बहुज्ञता नामक अध्याय में सम्यक् विचार किया गया है। उनके काव्यों का प्रमुख प्रयोजन कान्तासम्मित उपदेश है न कि रसानूभूति। वह उपदेश सकलजायोपक होते हुए भी शुद्धचित कतिपय अधिकारी व्यक्तियों द्वारा ही ग्राह्य है। अत: इनके काव्यों की ओर सर्वसाधारण की प्रवृत्ति न हो तो क्या आश्चर्य? इसके अतिरिक्त वे दार्शनिक पहले है, कवि बाद में, क्योंकि दर्शन के गूढ़ रहस्यों को ही सरल रीति से समझाने के लिए उन्होंने काव्य को माध्यम बनाया है। अत: दर्शन के क्षेत्र में ही उनकी अधिक ख्याति हुई, काव्य के क्षेत्र में नहीं। काव्य के अन्यान्य गुणों से परिपूर्ण होने पर भी उनके काव्यों को लोग दर्शन का ही पोषक समझने लगे। अत: उनकी काव्यता गौण हो गयी। परन्तु इस प्रकार की धारणा बना लेना उनकी सहृदयता और काव्यता के प्रति अन्याय करना है प्रत्येक कवि या लेखक का अपना वैशिष्ट्य होता है, जो कि उसकी कृतियों में झलकता रहता है। अन्य विशेषताओं के साथ यह भी वेदान्तदेशिक की एक विशेषता ही कही जाएगी कि उन्होंने अपने काव्यों में रामानुज दर्शन के सिद्धांतों को प्रमुख स्थान दिया है। कहने का तात्पर्य यह है कि काव्यों में भी दर्शन का पुट भरा होने के कारण वेदान्तदेशिक को विद्वानों ने दार्शनिक के रूप में ही अधिक सम्मान दिया, कवि के रूप में नहीं, जब कि उनकी कृतियां और प्रतिभा काव्य में अपना असाधारण स्थान रखती हैं, उपदेश रूप प्रमुख काव्य प्रयोजन का प्रतिपादन करने में सर्वथा समर्थ हैं।

****

सङ्केत-सूची

सं0 सू0	–	संकल्प सूर्योदय
या0	–	यादवाभ्युदय
यादवा0	–	यादवाभ्युदय
याद0	–	यादवाभ्युदय
भ0 ना0	–	भरत नाट्यशास्त्र
ना0 शा0	–	नाट्यशास्त्र
का0 प्र0	–	काव्य प्रकाश
सा0 द0	–	साहित्य दर्पण
सि0 कौ0	–	सिद्धान्त कौमुदी
वे0 सं0	–	वेदार्थ संग्रह व्याख्या
छा0	–	छान्दोग्योपनिषद्
छा0 उ0	–	छान्दोग्य उपनिषद्
तै0 आ0	–	तैन्तिरीय आरण्यक
ऐ0 ब्रा0	–	ऐतरेय ब्राह्मण
भा0 पु0	–	भागवत पुराण
शि0 पु0	–	शिव पुराण
म0 भा0	–	महा भारत
ब्र0 सू0	–	ब्रह्म सूत्र
ब्र0 बै0	–	ब्रह्म वैवर्तपुराण

अधीत-ग्रन्थ-सूची

अधीत-ग्रन्थ-सूची

ग्रन्थ	लेखक	स्थान-प्रकाशन
अभिनव भारती	अभिनवगुप्त	नाट्यशास्त्रम्-गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज 1956
अमीतिस्तव	वेदान्तदेशिक	श्री अग्गणाचार्य(कांची)
अमरकोष	श्री मन्नालाल अभिमन्यु	खेलाड़ी लाल एण्ड संस, वाराणसी, 1937
अष्टभुजाष्टक	वेदान्तदेशिक	श्री अग्गणाचार्य(कांची)
अर्थशास्त्र	कौटिल्य	अनु. श्रीगंगाप्रसाद शास्त्री, महाभारत कार्यालय, मालीवाड़ा, दिल्ली सं. 1996
उत्तररामचरितम्	भवभूति	चौखम्भा संस्कृत सीरीज आफिस वाराणसी 1962
ऋग्वेद	सं0 रामगोविन्द त्रिवेदी	गौरीनाथ झा मिथिला प्रेस, खलीफा बाग, भागलपुर 1930 संवत् 1992
ऐतरेय ब्राह्मण	सं0 काशीनाथ शास्त्री	आनन्दाश्रम प्रेस, पूना, 1930
कठोपनिषद्	श्री के0सी0वरदाचारी श्री डी0 टी0 ताताचार्य	तिरूमलैतिरूपति देवस्थानम् प्रेस, तिरूपति 1949
कामन्दक नीतिसार		
कामसूत्र	वात्स्यायन	श्री देवदत्त शास्त्री चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, 1964
काव्य प्रकाश-मम्मटकृत	झलकीकर	भण्डारकर इंस्टीट्यूट, पूना, 1965

काव्य प्रकाश	मम्मट	आ0विश्वेश्वर ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी,1960
काव्यानुशासन	वाग्भट्ट	बम्बई 1901
काव्यालंकार सारसंग्रह	उद्भट	
कुवलायानन्द	अप्पयदीक्षित	सं0भोलाशंकर व्यास चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी,1963
गीता	रामानुजभाष्य श्री नरसिंहाचार्य	आनन्दप्रेस,मद्रास, 1911
श्रीमद्भगवद् गीता		गीता प्रेस, गोरखपुर
छान्योग्योपनिषद्	श्री काशीनाथ शास्त्री	आनन्दश्रम प्रेस, पूना, 1934
तैत्तिरीय उपनिषद्	सं0 अनन्ताचार्य	सुदर्शन प्रेस, कांची, 1905
दशरूपक	धनन्जय	सम्पादक डा0भोलाशंकर व्यास, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, 1955
ध्वन्यालोक	आनन्दवर्धन	डा0 भोलाशंकर व्यास,वाराणसी,1955
नाट्यशास्त्र	भरतभुनि	द्वितीय संस्करण गायकवाड् ओरियण्टल सीरीज,1956
नैषध परिशीलन	डा0 चण्डिकाप्रसाद शुक्ल	हिन्दुस्तानी एकेडमी, उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद 1930
न्यायसिद्धांजन (वेदान्तदेशिककृत)	श्रीनालमेघाचार्य	वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी 1966।
प्रबोध चन्द्रोदय	श्रीकृष्ण मिश्र	सं0 रामचन्द्र मिश्र, चौखम्भा विद्या भवन, 1955
ब्रह्म वैवर्त पुराण		5 क्लाइव रोड, कलकत्ता,1955
ब्रह्म सूत्र	वादरायण	

भागवत पुराण	उत्तभूरवीरराघवाचार्य	श्री वत्स प्रेस,मद्रास,14-1963 गीता प्रेस, गोरखपुर
भाव प्रकाश	शारदातनय	गायकवाड़ ओरियण्टल सीरिज 1930
महाभारत	सं0 गंगाप्रसाद जी शास्त्री	महाभारत कार्यालय, मालीवाड़ा, गली लंगड़े वाले, दिल्ली सं0 1998
महाभारत	सं0 वासुदेव शास्त्री गणसीकर	निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, 1932
मुण्डकोपनिषद्	सं0 वासुदेव शास्त्रीगणसीकर	निर्णय सागर प्रेस, बम्बई 1932
यादवाभ्युदय 1से4 (वेदान्तदेशिककृत)	सं0के0वेंकटराव	श्रीरामास्वामीशास्त्री एण्ड संस, मद्रास, 1963
यादवाभ्युदय 4से8 (वेदान्तदेशिककृत)		वाणीविलास प्रेस, श्रीरंगम् 1924
यादवाभ्युदय 9से12		वाणीविलास प्रेस, श्रीरंगम् 1925
यादवाभ्युदय 13से18	टी0टी0श्रीनिवास गोपालाचार्य	गवर्नमेण्ट ब्रांच प्रेस, मैसूर, 1945